उत्तराखंड

सुन्दर-साहित्य-माला

सम्पादक

रामलोचनशरण

['बालक'-सम्पादक]

कैलास-दर्शन

लेखक

श्रीशिवनन्दनसहाय, बी. ए.

प्रकाशक

पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय

पृष्ठ-संख्या २२२

चित्र-संख्या २७

तिरंगी सचित्र जिल्द

सुन्दर स्वच्छ छपाई

मूल्य १॥)

सुन्दर-साहित्य-माला—२३

उत्तराखंड के पथ पर

अरे बटोही, चल उस ओर
प्रकृति-नटी जहँ नटवर के गुण गाती है हो प्रेम-विभोर

प्रोफेसर मनोरञ्जन, एम्. ए.
[हिन्दू-विश्वविद्यालय]

२)

समर्पण

अपनी 'माय'

श्रीमती मिथिला देवी को

जिनके पुण्य प्रताप

से ही

मैं यह यात्रा कर सका

मनोरंजन

चित्रावली

☞ ❀ ऐसे चिह्नोंवाले चित्र अलग रंगीन आर्टपेपर पर छपे हैं।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५३	४	ज्ञानमयी	ज्ञानमयः
५४	२२	बही	वही
७६	११	पहलोद्	पहले ही
६८	२३	सेवतौ	सेवती
१००	६	घनानां की शोभा	घनानां शोभा
१०८	१२	धन्य	अन्य
१२४	६	बफा	बर्फों
१२६	८	...	'तो' छूट गया है।
१३६	५	गोग-चट्टी	गोंद्-चट्टी
१८५	५	रावलजो	रावजो
१६३	१६	वकोल	वकील
"	२०	रावलजी	रावजी
२४१	१५	नाना	नानी
२४३	१२	गोपाल	भोपाल
२५१	१६	६२	१२
२६१	१२	ता	क्या

प्रकाशक का निवेदन

साहित्य-समीक्षकों का मत है कि हिन्दी में रोचक और सचित्र यात्रा-वर्णनों की बड़ी आवश्यकता है—बहुलांश में उनका अभाव भी है।

आज-कल समुद्र-यात्रा और आकाश-यात्रा जैसी सुगम हो गई है, पर्वत-यात्रा वैसी सुगम नहीं हुई है—विशेषतः पैदल यात्रा करनेवाले के लिये। समुद्र-यात्रा और आकाश-यात्रा से पर्वत-यात्रा कुछ कम साहसिकता-पूर्ण नहीं होती।

समुद्र-यात्रा पर हिन्दी में कुछ पुस्तकें हैं, आकाश यात्रा पर तो कोई पुस्तक अभी देखने में नहीं आई, और पर्वत-यात्रा पर भी इनी-गिनी ही हैं—अनामिका को सार्थक करने योग्य।

ईश्वर की दया से 'पुस्तक-भंडार' द्वारा अबतक पर्वत-यात्रा पर दो सचित्र पुस्तकें प्रकाशित हो सकी हैं—एक 'कैलास-दर्शन', जो दो साल पहले निकल चुकी है, और दूसरी यह 'उत्तराखंड के पथ पर'। दोनों के लेखकों ने पैदल यात्रा की है। दोनों ही यात्री की दिनचर्या के रूप में हैं।

इस पुस्तक में कुछ विशेषता है। इसके विद्वान् लेखक प्रसिद्ध कवि भी हैं। उनकी कविताओं का संग्रह हम शीघ्र ही पाठकों की सेवा में उपस्थित करेंगे। इस पुस्तक में भी यत्र-तत्र प्रसंगानुकूल उनकी कविताओं की बानगी मिलेगी। कविताओं से वर्णन की धारा बड़ी सुहावनी हो गई है। सम्भवतः इस ढङ्ग की कोई सुसज्जित यात्रा-पुस्तक अभी हिन्दी में नहीं निकली है।

इसकी भूमिका श्रीगङ्गाशरणसिंह 'साहित्यरत्न' ने लिखी है, जो इसी पुस्तक की प्रतिलिपि के सहारे स्वयं बदरी-केदार-यात्रा कर चुके हैं। उनकी भूमिका में भी बहुत-सी बातें पाठकों के जानने योग्य हैं। आशा है, उत्तराखंड के श्रद्धालु पथिकों को अपनी यात्रा में इस पुस्तक से काफी सहायता मिलेगी और साहित्यानुरागी पाठकों का भी इससे पर्याप्त मनोरंजन एवं ज्ञानवर्द्धन होगा।

इसमें उत्तराखंड का एक विस्तृत मानचित्र भी दिया गया है, जिसकी मूल प्रति लेखक को बाबा काली कमलीवाले की लोक-विश्रुत संस्था से प्राप्त हुई है। उस नक्शे से यात्रियों और पाठकों को यात्रा-वर्णन समझने में बड़ी सुविधा होगी तथा दर्शनीय चित्रों की बहुलता से वह वर्णन विशेष आकर्षक भी प्रतीत होगा।

विश्वास है, हमारी अन्य पुस्तकों की तरह सहृदय पाठक इसे भी अपनाने की कृपा करेंगे, जिससे उत्साहित होकर हम फिर उनकी सेवा में कोई यात्रा-पुस्तक वा साहित्यिक ग्रन्थ लेकर उपस्थित हो सकें।
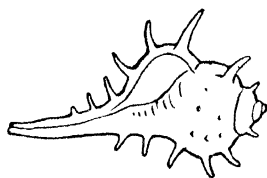
लेखक का वक्तव्य

सन् १९३३ की गर्मी की छुट्टी में मुझे श्रीबदरी-केदार जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। सन् १९३४ की गर्मी की छुट्टी में मैंने उस यात्रा का वर्णन पुस्तक-रूप में लिखकर तैयार किया। सन् १९३५ की गर्मी की छुट्टी में मैंने इस पुस्तक के प्रकाशन की बात शुरू की। सन् १९३६ की गर्मी की छुट्टी में इस पुस्तक का छपना प्रारम्भ हुआ। मेरे श्रद्धेय मास्टर साहब श्रीयुत रामलोचनशरणजो की कृपा, भाई शिवपूजनसहायजी के परिश्रम तथा प्रियवर कलाकार उपेन्द्र महारथीजी के प्रेम से ही यह इस रूप में प्रकाशित हो सकी है। मैं इन सभी का चिर-आभारी रहूँगा।

मेरी इस पुस्तक की नींव उस दिनचर्या पर है, जिसे यात्रा-पथ में नियमित रूप से मैं प्रतिदिन लिखा करता था। उस यात्रा में वही मेरा एकमात्र सहारा था। दिन में अथवा रात में, जब कभी पड़ाव पर पहुँचता था, थोड़ा आराम कर लेने के बाद, दिनचर्या लिखकर ही अपना जी बहला लिया करता था। इसी प्रकार, रास्ते में जब और कोई भी साथ नहीं रहता था, तब सिवा इसके कि आसपास की प्रकृति से बातें करूँ, राह काटने का और कोई भी उपाय नहीं सूझता था।

अपनी इस यात्रा में मैं एक प्रकार का 'आशु कवि' ही बन गया था! 'सुन्दरता को जगी देखकर' गाने को जी चाहता था, और उसी गुनगुनाहट के फल-स्वरूप वे गीत तैयार हुए, जिन्हें यथास्थान मैंने इस पुस्तक में दे भी दिया है। यात्रापथ पर और भी जो कुछ ज्ञातव्य बातें रहती थीं, उन्हें भी मैं बराबर अपनी दिनचर्या में नोट कर लिया

करता था। इस प्रकार मेरी दिनचर्या तीर्थयात्री तथा साहित्यिक दोनों ही के दृष्टिकोण से लिखी गई है। यह पुस्तक मेरी उसी दिनचर्या का परिवर्द्धित रूप है। आशा है कि इससे साहित्य-प्रेमियों का कुछ मनोरञ्जन भी होगा, और श्रीबदरी-केदार के यात्रियों को कुछ लाभ भी।

एक यात्री को तो यह काफी सहायता पहुँचा चुकी है। मेरे प्रिय मित्र भाई गंगाशरणसिंह को भी, सन् १९३५ की बरसात में, मेरे ही समान अपनी सास के साथ, श्रीबदरी-केदार-यात्रा का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उस समय मेरी इस पुस्तक की पांडुलिपि उनके साथ थी, और—जैसा कि यात्रा से लौटकर आने पर उन्होंने बतलाया—मेरे अनुभव से उन्हें भी काफी सहायता मिली। चूँकि वे ताजे-ताजे श्रीबदरी-केदार से वापस आये थे, इसलिये मैंने उन्हीं को अपनी इस पुस्तक की भूमिका लिखने का भार सौंपा। उन्होंने सानन्द इसे स्वीकार भी कर लिया। अतः वे मेरी हार्दिक कृतज्ञता के पात्र हैं।

अपनी यात्रा में मैं अपने साथ एक छोटा-सा कैमरा भी ले गया था; किन्तु वहाँ से लौटकर आने पर बीमार पड़ जाने के कारण फिर मेरे चित्रों की खबर लेनेवाला कोई न रहा, और वे यों ही नष्ट हो गये! अतः चित्रों के लिये मुझे दूसरों पर ही निर्भर रहना पड़ा। कुछ चित्र तो मैंने इधर-उधर से लिये; किन्तु अधिकांश चित्र मुझे अपने श्रद्धेय प्रोफेसर श्रीजीवन-शंकरजी याज्ञिक के अनुग्रह से प्राप्त हुए, जिनके लिये मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ। याज्ञिकजी के छोटे भाई डाक्टर भवानीशंकरजी याज्ञिक को, सरकार के स्वास्थ्य-विभाग की ओर से, वहाँ की अवस्था का निरीक्षण करने के लिये, उत्तराखंड जाना पड़ा था। उसी समय उन्होंने कई चित्र लिये थे, जिनका फिल्म ही तैयार हो गया है। उनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण दुर्लभ चित्र है श्रीबदरीनाथजी का, जो फ्लैश लाइट के सहारे लिया गया था। वह असली रूप का चित्र है, जिसका मिलना असम्भव ही था; किन्तु 'जा पर कृपा राम की होई' उसके लिये दुर्लभ कुछ भी नहीं है। इसीसे

मैं इसे भगवत्कृपा ही समझता हूँ कि वह चित्र मुझे प्राप्त हो सका और मैं उसे इस पुस्तक में देने में समर्थ हुआ।

यात्रा-प्रसंग में मुझे जिन-जिन लोगों से सहायता मिली, उनका उल्लेख मैं यथास्थान करता गया हूँ। यहाँ एक बार और उन्हें याद कर उनकी सेवा में अपनी कृतज्ञता की अञ्जलि अर्पित करता हूँ।

मेरा विचार था कि सभी चट्टियों की सूची तथा उनके विषय में सभी ज्ञातव्य बातें एक साथ इकट्ठी करके रख दूँ, जिससे यात्रियों को कुछ सुविधा हो सके। किन्तु तीन वर्ष का समय मिलने पर भी समयाभाव रह ही गया, और मैं वैसा न कर सका! इसी प्रकार, मेरी यह भी इच्छा थी कि यात्रा में अपने साथ क्या-क्या ले जाना चाहिये और यात्रा-पथ में किन बातों पर विशेष ध्यान रखना चाहिये, इनका भी उल्लेख कर दूँ; किन्तु दुःख है कि वह भी न कर सका। आशा है, पाठक क्षमा करेंगे। अब तो उन्हीं को कुछ कष्ट उठाकर वे सारी ज्ञातव्य बातें इकट्ठी करनी पड़ेंगी; क्योंकि इस पुस्तक में मैंने कोई भी जरूरी बात छोड़ी नहीं है।

अन्त में, एक बार और अपने सभी सहायकों को धन्यवाद। मेरे जिन मित्रों ने मेरा उत्साह बढ़ाया है, उनका तो मैं चिर-आभारी रहूँगा ही। बस। श्रीकृष्णार्पणमस्तु।
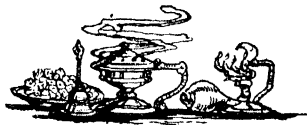
पुनश्च

पुस्तक पूरी छपकर तैयार हो जाने पर देखा गया कि दृष्टि-दोष से छपाई की कुछ भ्रमात्मक भूलें रह गई हैं। पृष्ठ २१६ में, चित्र के नीचे, "नन्दप्रयाग (मन्दाकिनी और अलकनन्दा के संगम पर)" छप गया है। उसमें 'मन्दाकिनी' के स्थान पर होना चाहिये 'नन्दाकिनी'; क्योंकि मन्दाकिनी और अलकनन्दा के संगम पर 'रुद्रप्रयाग' बसा हुआ है, जिसका जिक्र मैं उसके आगे ही कर चुका हूँ। यही गलती पृष्ठ २२१ की सातवीं पंक्ति में भी है। पृष्ठ २५४ की बारहवीं पंक्ति में 'विहार' के बदले 'बिहार' छप जाने से बिहार-प्रान्त का बोध होने लगता है। असल में मेरा आशय है 'पहाड़ की विहार-भूमि की सड़कों के समान'— और मैं विहार-भूमि उन Hill-stations को कहता हूँ, जहाँ शौकीन लोग सैर को जाया करते हैं।

कुछ जगहों में मात्राएँ टूट गई हैं, जिन्हें मैं पाठकों पर ही छोड़ता हूँ। आशा है, वे उन्हें स्वयं सुधारकर पढ़ लेंगे।

कुछ मित्रों की राय थी कि चट्टियों की सूची, यात्रा-सामग्री की सूची और अन्य यात्रा-पुस्तकों की सूची भी दे दी जाय। मैंने इन सभी बातों का यात्रा-वर्णन में ही विस्तृत विवरण दे दिया है। सहृदय पाठक यदि यात्रा करने के पहले मेरी इस पुस्तक को ध्यानपूर्वक पढ़कर वे बातें नोट कर लेने की कृपा करेंगे, तो मुझे विश्वास है कि उनको काफी लाभ होगा। और, बदरी-केदार का कोई भी यात्री बाबा काली कमलीवाले की धर्मशाला में अवश्य जायगा; वहाँ उसे चट्टियों की सूची आदि अवश्य मिल जायगी।

मेरी इस पुस्तक में पूरे उत्तराखंड का जिक्र तो है नहीं; क्योंकि मैं उन सभी स्थानों में जा ही नहीं सका। गंगोत्री तथा यमुनोत्री के दर्शन

का सौभाग्य मुझे अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है। श्रीबद्रीनाथ-धाम के आगे 'वसुधारा' अथवा 'सतोपंथ' के भी दर्शन मैं नहीं कर सका। मुख्य यात्रा-पथ से कुछ दूर हटकर जो पवित्र तीर्थस्थान हैं, उनमें भी 'त्रियुगी-नारायण' और 'तुंगनाथ' छोड़कर मैं और कहीं भी न जा सका। श्रीबद्री-नाथ से दो ही मील पर 'मानागाँव' है, जहाँ से एक रास्ता 'कैलास-मानस-सरोवर' को गया है; किन्तु उन सभी स्थानों का जिक्र भी क्यों करूँ जब अभीतक उनके दर्शनों से वञ्चित हूँ।

यदि शुद्ध पथ-प्रदर्शिका आप चाहते हैं, तो हमारे वयोवृद्ध विद्यार्थी ब्रह्मचारी चक्रधर शर्मा की पुस्तिका ले सकते हैं। और अधिक पुस्तकों का जिक्र करने का अब समय नहीं है; क्योंकि देखता हूँ, शरीर से दुम ही बड़ी होती जा रही है—यह 'पुनश्च' मेरे 'वक्तव्य' से भी विस्तृत होना चाहता है। अस्तु। अपनी गलतियों के लिये अपने सहृदय पाठकों से यहीं क्षमा माँगकर बिदा होता हूँ। बस। भूल-चूक माफ!

अनन्त-चतुर्दशी
वि० सं० १९९३

विनीत
मनोरंजन

भूमिका

पुण्य, धर्म और तीर्थ के विचार से नहीं, बल्कि साधारण यात्रा के दृष्टिकोण से, बदरीनाथ एक आकर्षण का स्थान है। यही कारण है कि प्राय: प्रत्येक वर्ष केवल धर्मप्राण और सनातनी हिन्दू ही नहीं, बल्कि अनेक नास्तिक और ऐसे विदेशी भी—जिनका इस यात्रा के पुण्य और धर्म में जरा भी विश्वास नहीं है और न उन बातों से कुछ भी सम्बन्ध ही है—बदरीनाथ की यात्रा करते पाये जाते हैं। हमारे देश-वासियों की दृष्टि में बदरीनाथ का आज जो महत्त्व है, वह केवल तीर्थ की ही दृष्टि से। मेरे यह कहने का यह मतलब नहीं है कि तीर्थ-यात्रा में साधारण यात्रा का मजा नहीं आ सकता, या उसमें खतरे में पड़ने की प्रवृत्ति रहती ही नहीं; लेकिन इतना अवश्य है कि जिस तरह हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन के अन्य अनेक पहलुओं का पूर्ण विकास नहीं हो पाया है, उसी तरह यात्रा और 'ऐडवेञ्चर' की तरफ से भी हम उदासीन हैं।

मेरा विचार है कि यात्रा के विचार से बदरीनाथ का जो महत्त्व होना चाहिये था, वह अभी हम उसे नहीं दे सके हैं, और इसका कारण है पढ़े-लिखे लोगों की उस ओर से उदासीनता।

हिन्दुओं के तीर्थस्थानों में चारों धाम मुख्य माने गये हैं, और उनमें भी बदरीनाथ को प्रधानता प्राप्त है। इस प्रकार बदरीनाथ हिन्दुओं का सर्वप्रधान तीर्थ कहा जा सकता है। बदरीनाथ के साथ ही अन्य मुख्य-मुख्य तीर्थस्थानों की यात्रा कर लेने के बाद प्रत्येक मनुष्य इस प्रधानता को स्वीकार करने को वाध्य होता है, इसमें शक नहीं है।

यों तो प्राय: सभी तीर्थ-स्थान किसी-न-किसी विशेषता के कारण यात्रा के उपयुक्त माने गये हैं, और सबकी अपनी अलग-अलग विशेषताएँ हैं; लेकिन बदरीनाथ इन सब में निराला है। यही कारण है कि तीर्थ-

यात्रियों में वहाँ की यात्रा के लिये विशेष आकर्षण रहता है और उसके सम्बन्ध में बहुत-सी कहावतें—लोकोक्तियाँ तथा किंवदन्तियाँ—प्रचलित हैं।

ऋषिकेश से आगे लछमन-झूला के पुल को पार कर उत्तराखंड का जो पार्वत्य पथ प्रारम्भ होता है, उसके दर्शन कर लेने पर प्रायः प्रत्येक मनुष्य एक बार उत्तराखंड की यात्रा के लिये लालायित हो उठता है। समतल भूमि पर रहनेवाले व्यक्तियों के लिये अपरिचित पहाड़ की कमर में करधनी की तरह लिपटे हुए उस पतले पथरीले पथ से यात्रियों के दल को अपने सामान के साथ—डंडी, झंपान, कंडी या घोड़े पर या पैदल—जाते देखकर, उनकी 'बदरीविशाललाल की जय' की ऊँचे पहाड़ों में गूँजती और रास्ते के साथ-साथ—लेकिन बहुत नीचे—बहनेवाली गंगा की लहरों से टकराती हुई ध्वनि को सुनकर, ऐसी ख्वाहिश होती है कि अब इसी दल के साथ चल चला जाय। उस समय उस यात्रा के प्रति ऐसा आकर्षण होता है कि उसे दबाकर—रोककर—वहाँ से वापस चला आना बहुत साहस और कड़े दिल का काम है। मैं स्वयं इसका शिकार हो चुका हूँ।

कई साल गुजर गये; लेकिन मुझे अच्छी तरह याद है, मैं उस बार लछमन-झूला से लौट आया था; लेकिन उत्तराखंड की यात्रा के लिये एक ऐसी तड़प—एक ऐसा आकर्षण लेकर, जिससे मैं अपना पिंड नहीं छुड़ा सकता था। तब से मैं बराबर संयोग ढूँढ़ा करता था। बदरीनाथ की यात्रा के सम्बन्ध में जो भी पुस्तक मिल जाती, उसे बड़े चाव से पढ़ता; लेकिन बहुत दिनों तक मैं अपनी इस इच्छा की पूर्ति के लिये अवसर न निकाल सका।

卐 卐 卐 卐

श्रीशंकराचार्य द्वारा स्थापित चारों पीठों में बदरीनाथ एक है। इसे ज्योतिर्मठ या ज्योति-पीठ भी कहते हैं। अन्य तीन पीठों की तरह श्री-शंकराचार्य ने यहाँ भी अपने एक शिष्य को अधिकारी बनाया था और शिष्य-परम्परा की परिपाटी कायम की थी। अन्य पीठों में वह परिपाटी आज तक कायम है; किन्तु बदरीनाथ के सर्वप्रधान तीर्थ होने पर भी वहाँ

वह परम्परा कायम न रह सकी। उसका कारण है—अन्य तीन पीठों से बदरीनाथ की विभिन्नता और उसकी भौगोलिक स्थिति। बदरीनाथ जनपद से दूर, पहाड़ों के बीच में, छः महीने बर्फ से ढँका रहनेवाला स्थान है। वहाँ का पथ दुर्गम है और यात्रा कष्ट-साध्य। मनुष्य के दैनिक जीवन-निर्वाह तथा आराम और मौज के सामानों के वहाँ पहुँचने में जो कठिनता पहले होती थी, उसका तो अनुमान भी करना सहज नहीं है। आज बीसवीं सदी के वैज्ञानिक आविष्कार और विकास के युग में बहुत-कुछ सुविधा हो चुकने पर भी जहाँ जाने में उसी मार्ग और बहुत-से उन्हीं तौर-तरीकों को ग्रहण करना पड़ता है, जो आज से कई सौ वर्ष पहले से प्रचलित हैं, उस स्थान में उस परम्परा का कायम रहना एक दुस्तर व्यापार था। आज तो साल में पचीसों हजार यात्री वहाँ जाते हैं। रास्ते में अनेक तरह की सुविधाएँ हो गई हैं; लेकिन उस समय जब कि जन-समुदाय से उस स्थान का इतना सम्पर्क नहीं था, श्रीशंकराचार्य की चलाई हुई परिपाटी का वहाँ कायम न रह सकना स्वाभाविक ही था।

बहुत दिनों तक वहाँ कोई व्यवस्था नहीं रही। अन्त में टिहरी के महाराजा ने बदरीनाथ के मामले को हाथ में लिया और कोई व्यवस्था करनी चाही। इस विचार से प्रेरित होकर उन्होंने श्रीशंकराचार्य के अन्य तीन पीठों के तत्कालीन अधिकारियों से मिलकर कुछ तय करना चाहा—उनसे बदरीनाथ की नई व्यवस्था कायम करने में सहायता चाही। लेकिन उस दूरवर्त्ती पहाड़ी और जंगली स्थान के प्रबन्ध के सम्बन्ध में उनलोगों ने विशेष दिलचस्पी नहीं ली ; उस ओर उनलोगों का ध्यान विशेष आकर्षित न हो सका। हाँ, प्रायः स्वीकारात्मक या नकारात्मक सलाह भर देते रहे। कोई योग्य संन्यासी या उत्तराधिकारी न मिलने पर अन्त में महाराजा ने दक्षिण से श्रीशंकराचार्य की जाति के एक नम्बूरी ब्राह्मण को बुला कर बदरीनाथ की गद्दी का अधिकारी बनाया। अन्य तीन पीठों के अधिकारी 'जगद्गुरु शंकराचार्य' कहलाते हैं; लेकिन बदरीनाथ के अधिकारी

का नाम 'रावल' पड़ा। उसके बाद से रावल ही वहाँ के प्रधान समझे जाते हैं। बदरीनाथ के विग्रह का स्पर्श करने तथा उनकी पूजा का अधिकार एकमात्र रावल को है; दूसरा कोई छू नहीं सकता—अलग ही से दर्शन कर सकता है।

इस बीच में रावल और टिहरी-स्टेट तथा देवप्रयागवासी बदरीनाथ के पंडों में विरोध उठ खड़ा हुआ। यह विरोध कई बार कई रूप में प्रकट हुआ। भारत-सरकार भी इसके बीच में पड़ी। गवर्नमेंट के बीच में पड़ने के बाद बदरीनाथ के मन्दिर और आमद-खर्च की एक निश्चित व्यवस्था तैयार की गई और उसको कानूनी रूप भी दे दिया गया। आज-कल उसी के अनुसार सब प्रबन्ध होता है और गवर्नमेंट का ऑडिटर प्रत्येक वर्ष वहाँ के आमद-खर्च के हिसाब की जाँच किया करता है।

टिहरी-महाराज, देवप्रयाग में रहनेवाले बदरीनाथ के पंडे, रावल, बदरीनाथ की सेवा करनेवाले डिमरी-जाति के लोगों तथा सरकार के आपस के सम्बन्ध में अबतक बड़ी खींचातानी होती रही है। उसकी एक लम्बी कहानी है। झगड़ा अभी तक चल रहा है। मामला नोटिसबाजी और समाचारपत्रों से बढ़कर कचहरी और कौंसिलों तक जा पहुँचा है। कई कमीशन बदरीनाथ जा चुके हैं। कई बार जाँच हो चुकी है। कई मुकदमे भी हुए हैं, कौंसिल के सामने भी प्रश्न आ चुका है; लेकिन अभी तक समस्या सुलझी नहीं है, प्रत्येक दल के अधिकारों का निर्णय नहीं हो सका है।

इस लड़ाई में देवप्रयाग में रहनेवाले बदरीनाथ के पंडे और टिहरी के महाराज एक ओर हैं और रावल दूसरी ओर। सुनने में आया है कि सरकार भी रावल की बात को ही सही मानकर उन्हीं का साथ देती है। बेचारे डिमरियों का कोई पुर्सां-हाल नहीं है। अभीतक यह निश्चित रूप से तय नहीं हो सका है कि बदरीनाथ ब्रिटिश अधिकार में रहे या टिहरी-स्टेट के अन्तर्गत—और रावल तथा पंडों के क्या-क्या अधिकार होंगे; डिमरियों का भी कोई स्थान होगा या नहीं!

इधर एक नई बात और हो गई। अबतक परिपाटी यह चली आती थी कि रावल विवाह नहीं करते थे। वे रावल होते समय आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रत-पालन की प्रतिज्ञा करते थे। यह दूसरी बात है कि विना विवाह किये भी बदरीनाथ की सेवा में नियुक्त डिमरी-जाति की किसी कन्या से उनका शारीरिक सम्बन्ध हो जाता था, उस कन्या से बच्चे भी होते थे और वे कुँअर भी कहलाते थे! कभी-कभी डिमरी-जाति के बाहर भी इस प्रकार के सम्बन्ध होने की बातें सुनी जाती हैं। वर्त्तमान रावल श्रीवासुदेवजी नम्बूरी ने, दो वर्ष हुए, एक डिमरी-कन्या से बाजाब्ता शादी कर ली। इसपर बहुत हल्ला मचा। अभीतक इसके विरोध में आन्दोलन और प्रचार जारी है। इसपर काफी नोटिसबाजी और लेक्चरबाजी हुई। लेकिन फल कुछ न निकला। आपस का वैमनस्य अभी तक कायम है।

आजकल की व्यवस्था के अनुसार देवप्रयागवासी बदरीनाथ के पंडों को यात्री लेकर पंडे की हैसियत से बदरीनाथ के मन्दिर में जाने का अधिकार नहीं है। मन्दिर में या 'अटका' में जो कुछ चढ़ता है, उसमें से उन्हें कुछ नहीं मिलता; वह सब खजाने में जमा होता है। यात्री अपने मन से, अपनी शक्ति और इच्छा के अनुकूल, उन्हें खास तौर से दक्षिणा या सुफल के रूप में जो कुछ अलग देते हैं वही उनका होता है।

इसमें जरा भी शक नहीं कि हिन्दुस्तान के दूसरे किसी तीर्थस्थान के पंडों की अपेक्षा बदरीनाथ के पंडे अपने यात्रियों की सुख-सुविधा का अधिक खयाल रखते हैं। अगर ऐसा न होता तो उस अनजान, निर्जन और साधन-शून्य विकट मार्ग में साधारण यात्रियों की क्या दुर्गति होती, नहीं कहा जा सकता। यह ठीक है कि दक्षिणा या सुफल के समय उनमें और दूसरे स्थानों के पंडों में जरा भी फर्क नहीं रह जाता—वे भी धर्म-भीरु यात्रियों को उसी प्रकार तंग करते हैं; लेकिन रास्ते में इतनी सेवा-सहायता करते हैं कि मनुष्य मुग्ध हुए विना नहीं रह सकता।

बदरीनाथ के रास्ते को तय करने के लिये डंडी, झंपान, कंडी, घोड़ा

और पैदल के अलावा कुछ दूर तक मोटर-बस और बहुत दूर तक हवाई-जहाज का भी प्रबन्ध हो गया है। हरद्वार से देवप्रयाग तक मोटर-बस जाती है; लेकिन केवल गर्मी के दिनों में, बरसात में नहीं। केदारनाथ के रास्ते में 'अगस्त मुनि' तक तथा बदरीनाथ के रास्ते में 'गोचर' तक हवाई-जहाज से भी जाने का इन्तजाम है, उसके आगे पैदल या किसी पहाड़ी सवारी से जाना पड़ता है। लेकिन, अगर 'हिमालय-एयरवेज-लिमिटेड' (Himalaya Airways Limited) के अधिकारी बुरा न मानें, और इसे अपने व्यापार के खिलाफ प्रचार न समझें, तो मैं यह कहूँगा कि इस यात्रा में पैदल जाने-आने में जो मजा है, उसका शतांश भी हवाई-जहाज में नहीं मिलता। हाँ, जो शरीर से ऐसे लाचार हों कि पैदल नहीं चल सकते, या समय की कमी के कारण जो पैदल यात्रा करने में असमर्थ हैं, उनके लिये तो हवाई-जहाज ही अच्छा कहा जा सकता है। कुछ वर्ष हुए, भारत के भूतपूर्व वाइसराय लार्ड विलिङ्गडन की पत्नी भी हवाई-जहाज से बदरीनाथ गई थीं।

卐 卐 卐 卐

यों तो उत्तराखंड में गंगोत्री, यमुनोत्री, केदारनाथ और बदरीनाथ—ये ही चार स्थान मुख्य माने जाते हैं; लेकिन यात्रा में—ठीक रास्ते ही में या रास्ते से कुछ मील इधर-उधर अलग हटकर—अन्य अनेक तीर्थ तथा दर्शनीय स्थान भी मिलते हैं। उनमें से बदरी-केदार के रास्ते में पड़नेवाले अधिकांश स्थानों का जिक्र इस पुस्तक में स्थान-स्थान पर आ गया है।

बदरी-केदार-यात्रा में जो सबसे ऊँची जगह मिलती है वह 'तुंगनाथ' है। इस यात्रा में मिलनेवाले सभी स्थानों को देखते हुए उसका 'तुंग' नाम सार्थक जान पड़ता है। केदारनाथ की ऊँचाई भी बदरीनाथ से लगभग एक हजार फीट अधिक है। इसी कारण समतल के रहनेवालों को बदरीनाथ सबसे अधिक सुखद प्रतीत होता है। बदरीनाथ में एक और आराम देनेवाली वस्तु है, वहाँ का तप्त कुंड। उस बर्फ और बादलों के

देश में, जहाँ ठंढा पानी छूने की भी इच्छा नहीं होती, तप्त कुंड में स्नान करना बड़ा ही सुखद मालूम होता है। केदारनाथ के रास्ते में गौरीकुंड में भी गर्म पानी का झरना है; लेकिन उसका जल बदरीनाथ के तप्त कुंड की अपेक्षा कुछ अधिक गर्म है, इसीसे यह उतना सुखकर नहीं प्रतीत होता।

छोटी-मोटी पहाड़ियों या ऊँचे स्थानों पर चढ़ने उतरने में ऐसा मालूम होता है कि चढ़ने की अपेक्षा उतरना अधिक सुविधा-जनक और विपद्-रहित है। लेकिन उत्तराखंड की यात्रा में जब कभी कई मीलों की लगातार खड़ी उतराई मिलती है, तब ऐसा मालूम होता है कि उतराई पार करना भी खतरे से खाली नहीं है। चढ़ने में तो मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार पैरों को रोककर खड़ा हो सकता है; लेकिन उतरने में ऐसा जान पड़ता है मानों कोई पीछे से ढकेल रहा हो—पैरों को विश्राम का मौका ही नहीं मिलता—घुटने के जोड़ ढीले मालूम पड़ने लगते हैं!

यह बिलकुल सच है कि बदरीनाथ की यात्रा बूढ़े लोगों के लिये नहीं है। वे भक्ति-भाव के वश हो भले ही चले जायँ, लेकिन शरीर थक जाने के बाद इस यात्रा में मजा नहीं आता, आदमी पूरा आनन्द नहीं उठा सकता। इसलिये शक्ति रहते ऐसे स्थानों की यात्रा कर लेना ही श्रेयस्कर और आनन्द-दायक है।

मैं स्वयं घुमक्कड़ प्रकृति का हूँ। घूमना मुझे बहुत ही प्रिय है। हरद्वार और हृषीकेश कई बार जा चुका हूँ। जब पहली बार हृषीकेश गया था, लछमन-झूला भी जाने का मौका मिला था। उसी समय उस ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी रास्ते ने मेरे मन में घर कर लिया था। मैं एक बार उस पथ का पथिक होने के लिये बेचैन रहा करता था; लेकिन समय नहीं निकाल पाता था।

सन् १९३४ में बिहार के प्रलयकारी भूकम्प के बाद मेरा और भाई मनोरंजन का महीनों साथ रहा। 'बिहार सेंट्रल रिलीफ कमिटी' के प्रारंभिक दिनों में हम दोनों साथ ही काम करते थे। उसी समय उनकी इस

पुस्तक का कुछ अंश कलकत्ते के मासिक 'विशाल भारत' में प्रकाशित हो रहा था। एक दिन एकाएक वह मेरी नजरों से गुजरा। मैंने उसे पढ़ा। वह मुझे बहुत ही अच्छा लगा। संयोगवश उस समय हम दोनों साथ थे ही। उनसे यात्रा के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से बातें हुईं। मेरे दिल में वर्षों से जो लालसा धीरे-धीरे सुलग रही थी, वह जैसे प्रज्वलित हो उठी। लेकिन वह समय तो कहीं बाहर जाने का नहीं था। उस समय सचमुच हमलोगों को मरने की भी फुर्सत नहीं थी। उसके कुछ ही महीने बाद एक रोज एक अँगरेज सज्जन श्रीराजेन्द्रबाबू से मिलने के लिये आये। वे उत्तराखंड की यात्रा करके लौटे थे। वे अपनी लिखी हुई 'उत्तराखंड' नामक अँगरेजी पुस्तक भी अपने साथ लाये थे। पुस्तक कलकत्ते से प्रकाशित हुई थी—आर्टपेपर पर, सचित्र, बहुत ही सुन्दर छपाई। संयोगवश श्रीराजेन्द्रबाबू उस समय कहीं बाहर गये हुए थे। इस कारण यात्री-सज्जन को उनसे मिलने की प्रतीक्षा में हमलोगों के साथ ही ठहरना पड़ा। उनसे भी यात्रा के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें हुईं। उन्होंने अपनी पुस्तक की एक प्रति श्रीराजेन्द्रबाबू को दी। मुझे उसे पढ़ने का मौका मिला। उनसे बातें करके और उनकी पुस्तक पढ़कर मेरी इच्छा और भी बलवती हो उठी।

उसी वर्ष, कुछ ही समय बाद, मुंगेर की श्रीमती रत्नमाला देवी ने 'हिमालय-परिभ्रमण' नामक अपनी बंगला-पुस्तक की एक प्रति श्रीराजेन्द्र बाबू को भेजी, जिसमें उन्होंने अपनी बदरी-केदार-यात्रा का सविस्तर वर्णन लिखा है। मैं उस पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ गया। उसे पढ़कर मैं और भी उतावला हो उठा। किसी तरह उस साल तो न जा सका, लेकिन उसी समय यह दृढ़ संकल्प किया कि अगले साल अवश्य जाऊँगा। उसी संकल्प के फल-स्वरूप, अनेक विघ्न-बाधाओं को पार कर, और कामों के कभी खतम न होनेवाले सिलसिले और बोझ को धीरे से खिसकाकर, किसी प्रकार मैं सन् १९३९ में अपनी इच्छा कुछ अंशों में पूरी कर सका।

इन कतिपय पंक्तियों के लिखते समय 'गंगा की गैल में मदार के

गीत' की तरह जो मैंने अपनी यात्रा की अनावश्यक-सी चर्चा चला दी है, उसका कारण है और इस पुस्तक से उसका कुछ सम्बन्ध भी है। इसलिये आशा है कि इस अनधिकार चर्चा के लिये मैं क्षमा का पात्र समझा जाऊँगा।

卐 卐 卐 卐

मेरी और भाई मनोरंजन की यात्रा में अनेक प्रकार का साम्य रहा है। हाँ, दोनों के अनुभवों में बहुत-कुछ अन्तर भी रहा है, और उसका कारण है कि वे गर्मी में गये थे और मैं बरसात में—साथ ही, वे मुझसे लगभग दो वर्ष पहले गये थे। उनकी बदरी-केदार-यात्रा के वर्णन के—काशी के साप्ताहिक 'सनातनधर्म' और कलकत्ते के मासिक 'विशालभारत' में—प्रकाशित अंशों को ही एकत्र कर, आवश्यक संशोधन और परिवर्द्धन के बाद, यह पुस्तक तैयार हुई है। जिस समय मैं यात्रा में जा रहा था उस समय भाई मनोरंजन ने कृपा कर उक्त पत्रों में प्रकाशित सभी अंशों की पूरी फाइल मुझे दे दी थी। मुझे इससे यात्रा में बड़ा आराम रहा—बहुत सुविधा हुई।

बदरीनाथ की यात्रा से सम्बन्ध रखनेवाली—बँगला, अँगरेजी और हिन्दी की—बहुत-सी पुस्तकें मैं पढ़ चुका था। उनमें से कुछ चुनी हुई पुस्तकें अपने साथ भी ले गया था। लेकिन जितनी सहायता मुझे इस पुस्तक से मिली, उतनी किसी से नहीं। बदरीनाथ की यात्रा से सम्बन्ध रखनेवाली प्रायः अधिकांश प्रसिद्ध पुस्तकों के पढ़ने के बाद, अपने अनुभव के आधार पर मैं यह कहने को वाध्य हूँ कि उनमें कोई भी इतनी अधिक जानने लायक बातें बतानेवाली और मनोरंजक नहीं है। बदरी-केदार-यात्रा के सम्बन्ध में अबतक प्रकाशित सभी पुस्तकों से यह यात्रियों के अधिक काम की है। साधारणतः तीर्थ-यात्रा की आधुनिक पुस्तकों में जो एक प्रकार का रूखापन या उदासी रहती है, उसका इसमें पता नहीं है। यह पुस्तक उपन्यास की तरह मनोरंजक है और कोष की तरह उपयोगी। मेरा विश्वास है कि दूसरे लोगों का अनुभव भी इस बात का साक्षी होगा और यह पुस्तक हिन्दी के पाठकों को प्रिय तथा उपादेय जँचेगी।

भाइ मनोरंजन से मैं जितना नजदीक हूँ, और वे मेरे जितने निकट हैं, उसके कारण, मुझे अपनी यात्रा में उनसे जो सहायता प्राप्त हुई थी उसके लिये, न तो अबतक उन्हें धन्यवाद दे सका हूँ और न आज दे सकता हूँ। हमलोगों का जो सम्बन्ध है उसे शिष्टाचार के पलड़े पर रख कर उसे बाजार की चीज नहीं बनाना चाहता। ऐसा करना उस सम्बन्ध का अपमान करना होगा। आपस के उस सम्बन्ध के कारण ही मैं इस पुस्तक के सम्बन्ध में जो कुछ लिखना चाहता था, वह नहीं लिख सका— इस डर से कि इस पुस्तक का जो महत्त्व है, उसमें मेरी कुछ पंक्तियों से वृद्धि तो होगी नहीं, उलटे इस 'निष्पक्ष आलोचना' के युग में मेरे यथार्थ विचार भी पारखी सज्जनों को अतिरंजित ऊँचने लगेंगे। साथ ही, मेरा विश्वास है कि ऐसी काम की पुस्तक के लिये किसी सिफारिश की आवश्यकता भी नहीं है।

सदाकत-आश्रम, पटना
ऋषि-पञ्चमी, १९९३

गंगाशरण

बालक
सचित्र
विचित्र

पुस्तक-भण्डार, लहेरियासराय, पटना

उत्तराखंड के पथ पर

उत्तराखंड का दुर्गम पर्वत-पथ

[श्री उपेन्द्र महारथी द्वारा अंकित]

卐 卐 卐 卐

लेखक की पूजनीया सास (मा)

उत्तराखंड के पथिक—प्रोफेसर मनोरंजन, एम० ए०

पूर्व-कथा

[१]

"यावत्प्राणाः शरीरेऽस्मिन्यावदिन्द्रियशुद्धता ।
गात्राणि यावच्छैथिल्यं नाप्नुवन्ति महेश्वरि ।
बदरीगमने तावद्विलम्बो न विधेयकः ॥"
— स्कन्दपुराण

जवानी रहते ही श्रीबदरीनारायण की यात्रा कर लेनी चाहिये, इसीसे जब पहले-पहल मैंने हरद्वार जाकर श्रीबदरीनारायण के पथ के दर्शन किये, तब मेरे मन में उत्तराखंड-यात्रा की उत्कट लालसा उत्पन्न हुई; किन्तु उस समय पास में साधन नहीं थे। अस्तु, मुझे लाचार लक्ष्मण-झूले से ही मन मसोसकर लौट आना पड़ा।

यह सन् १९१८ की बात है। उसी समय मैंने यात्रा-विषयक बहुत-सी बातों का पता लगा लिया था। उसी समय मुझे मालूम हुआ था कि उत्तराखंड की यात्रा हरद्वार से ही प्रारम्भ होती है और वहीं से लोग बदरीनाथ जाते हैं, केदारनाथ जाते हैं, गंगोत्री जाते हैं, जमुनोत्री जाते हैं। इसीसे उसे हरिद्वार भी कहते हैं, हरद्वार भी कहते हैं, गंगाद्वार भी कहते हैं। हरिद्वार—क्योंकि वहीं से श्रीबदरीनाथ-धाम का सीधा रास्ता है। हरद्वार—

क्योंकि वहीं से शिवालिक-पर्वतश्रेणी पार करके लोग केदारनाथ जाते हैं और श्री कैलास-मानस-सरोवर जाने का इधर से भी रास्ता है, और गंगाद्वार तो वह प्रत्यक्ष है ही। उसे देखने से ही इस नाम की सार्थकता मालूम हो जाती है। हाँ, उसके लिये इतना आवश्यक है कि बीच गंगा से एक बार उत्तर की ओर देख ले।

उसी यात्रा में, जब गुरुकुल-काँगड़ी गंगा के उस पार था, मुझे गंगा पार कर उधर जाना पड़ा था। उस समय उसे पार करने के लिये मुझे 'तमेड़' का सहारा लेना पड़ा था।

यह 'तमेड़' भी कुछ अजीब सवारी है। टीन के कनस्तरों को इकट्ठा कर बाँध देते हैं और उनके चारों ओर बाँस की खपचियाँ कस देते हैं। उसीको 'तमेड़' कहते हैं। यात्री उसी पर बैठ जाते हैं और खेनेवाले लौकी (तुम्बी) का सहारा लेकर पानी में ही रहते हैं और तमेड़ को ले चलते हैं। उस सवारी की सतह पानी से कुछ ही ऊँची रहती है, और कभी-कभी तो लहरें आकर शरीर के निम्न भाग को भिगो जाती हैं! बड़ी ही खतरनाक होती है वह सवारी। इस प्रकार दम साधकर बैठना पड़ता है जिसमें 'बैलेंस' (Balance) खराब न हो। जरा हिले-डुले और नीचे पानी में—और वह पानी! उफ्—विशाल वेग से उछलती, कूदती, गरजती हुई जलधारा, जिसमें गिरिये तो आफत आ जाय। नाव की तो ताक़त नहीं कि उधर की बढ़ी हुई गंगा में चल सके। लहरें उसे उठाकर चट्टान पर पटक दें और वह टकराकर टुकड़े-टुकड़े हो जाय। इसीसे तमेड़ का सहारा लेना पड़ता है।

बस, उसी तमेड़ पर बैठकर मैंने बीच गंगा से देखा, सामने

शिवालिक की ऊँची दीवार खड़ी थी। जान पड़ता था, मानों किसी बड़े नगर की शहर-पनाह हो। उसके बीचो-बीच बड़ा-सा सदर दरवाजा खुला हुआ था—विशाल फाटक-सा। उसीके बीच से गंगाजी आ रही थीं पर्वत-वक्ष विदीर्ण करके। बस, उसी दिन मुझे गंगाद्वार की सार्थकता विदित हुई।

मैं वहीं पहले-पहल हरद्वार गया था, और ढाई महीने ठहरा भी था—उससे तीन मील हटकर ज्वालापुर-महाविद्यालय में। उसी सिलसिले में मैंने आस-पास के सभी स्थान देख लिये थे—ज्वालापुर, कनखल, मायापुर, हरद्वार, ऋषिकेश, लक्ष्मण-झूला।

ज्वालापुर में हरद्वार के पंडे रहते हैं। वहाँ कई साल से गुरुकुल-महाविद्यालय भी है, जहाँ निःशुल्क शिक्षा दी जाती है और जो अपने ढंग की एक ही संस्था है! स्थान भी बहुत ही सुन्दर, दिव्य और स्वास्थ्यप्रद है; और वहाँ के कुएँ के पानी में जैसा स्वाद है वैसा स्वाद तो मुझे बहुत ही कम स्थानों के जल में मिला है।

सन् १९३१ में जब मैं दुबारा ज्वालापुर गया तब देखा कि काँगड़ी का गुरुकुल भी अब टूटकर वहीं आ गया है, जिससे उसकी रौनक और भी बढ़ गई है। नहर के किनारे-किनारे उसका दृश्य बड़ा ही सुन्दर और रमणीक दिखलाई देता है।

उसके बाद ही कनखल है—ठीक गंगाजी के किनारे। यहीं पुराण-प्रसिद्ध दक्षयज्ञ हुआ था, जहाँ सती ने पति के अपमान के कारण अपना शरीर-त्याग किया था। गंगा-तट पर दक्ष-प्रजापति का मन्दिर है—पक्का घाट, सुन्दर छाया। बैठकर गंगा का दृश्य देखने में बहुत आनन्द आता है।

कनखल से मायापुर आते हैं। यह वही प्रसिद्ध मायापुर है, जिसकी गिनती भारत की सप्तपुरियों में है—

"अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः॥"

मायापुर के बाद ही हरद्वार है—हमलोगों का पुराना तीर्थ, जहाँ न जाने किस काल से श्रद्धा और भक्ति से प्रेरित होकर यात्रियों का दल आता ही रहता है। यहीं पहले-पहल कलि-कलुष-विनाशिनी गंगा समतल भूमि पर आती है।

उसके उस पार चंडी-पर्वत दिखलाई देता है। अँगरेजों की इंजीनियरिंग से आजकल उधर का दृश्य और भी सुन्दर हो गया है। नीलधारा के दर्शन कर चित्त प्रसन्न हो जाता है। 'हर की पैड़ी' का तो कहना ही क्या है! सन्ध्या समय जिसने उसका सुन्दर दृश्य देखा है वह कभी उसे भूल नहीं सकता। श्रद्धालु यात्रियों की भीड़, उपदेशकों और भजनीकों की मंडली, गंगा-वक्ष पर तैरती हुई असंख्य दीप-मालिकाओं की दिव्य उज्ज्वल ज्योति! देखकर चित्त आप-ही-आप श्रद्धाभक्ति के भाव से भर उठता है।

हरद्वार से पन्द्रह मील पर ऋषिकेश है। सन् १९१८ में जब मैं वहाँ गया था, 'ऋषिकेश-रोड' नाम का एक स्टेशन था, जो आज 'रायवाला' हो गया है। यात्री वहीं से ऋषिकेश जाया करते थे; किन्तु दूसरी बार जब गया, देखा कि हरद्वार से अब ट्रेन भी जाती है और लारियाँ भी; रास्ते में अनेक पवित्र स्थानों

के दर्शन भी हो जाते हैं, जिनमें 'भीमगोड़ा' और 'सत्यनारायण' विशेष उल्लेखनीय हैं।

ऋषिकेश में, जहाँ श्रीरघुनाथजी का मन्दिर है—उसके पास ही, ठीक गंगा-तट पर, वृक्षों की सघन छाया है। वहाँ गंगा का दृश्य बड़ा ही सुन्दर है। जेठ-बैसाख की दुपहरी में भी उतनी गर्मी नहीं मालूम होती। बड़ा ही सुहावना है वह दृश्य। एक दिन दुपहरिया-भर बैठा-बैठा मैं उसीको देखता रहा और मन की उमंग में गुनगुनाता रहा—

पत्थर पर उछल-उछल कर
चट्टानों से टकराती।
मतवाली यह सरिता यों
किस ओर वेग से जाती?

निर्मम अत्याचारी के
दुर्गम कारागारों को।
क्या तोड़ चला विद्रोही
पत्थर की दीवारों को?

अथवा सन्तप्त हृदय पर
करने नव रस का सिंचन।
व्याकुल हो आज चला है
यह पर-उपकारी का मन?

स्वर्गीय सुन्दरी का है
अथवा उद्वेलित यौवन?

वा पितृगृह में बाला का
है मतवाला अल्हड़पन ?

पथ की सब बाधाओं का
कुछ ध्यान न मन में लाती ।
अभिसारिणि यह रमणी क्या
प्रियतम से मिलने जाती ?

चाहे बाधाएँ आवें
लेकिन यह रुक न सकेगी ।
अपने प्रियतम-ढिग जाकर
ही यह दम में दम लेगी ॥

× ×

लक्ष्मण-झूले में गंगा का दूसरा ही रूप है। वहाँ वह बिल्कुल नहर-सी दिखलाई देती है। छोटा-सा पाट, उस पर झूले का पुल—मजबूत लोहे का बना हुआ, जिस पर चढ़ने से हल्के हिंडोले का मजा आता है। उसीके पास खड़ा होकर मैंने देखा था श्रीबदरी-केदार का पथ, जिस पथ पर पांडव गये थे अपनी अन्तिम यात्रा में हिमालय की ओर। उसी समय जी में आया था कि क्या मैं वहाँ नहीं जा सकूँगा—क्या वह दिन कभी न आवेगा जब मैं अपनी इन्हीं आँखों से 'अम्बर-चुम्बित भाल-हिमाचल' के भव्य दर्शन करूँगा ? मेरा मन मचल उठा था; किन्तु पास में साधन न होने के कारण मुझे लौटना ही पड़ा।

उसके बाद सन् १९३१ में दुबारा जब मैं अपनी धर्मपत्नी के साथ वहाँ गया, तब लक्ष्मण-झूले से भी कुछ आगे बढ़ा था—

गरुड़चट्टी तक—सिर्फ दो मील। रास्ता बहुत अच्छा था, और गरुड़चट्टी पहुँचकर तो जो आनन्द आया उसका वर्णन नहीं हो सकता। सुन्दर रम्य स्थान; सुहावने फल के बाग—आम, अमरूद, केला आदि—अपने ही देश के फल; ऊपर से आता हुआ सुन्दर झरने का जल; गरुड भगवान् की भव्य मूर्त्ति—सभी एक-से-एक बढ़कर थे। ऊपर गया—वसिष्ठाश्रम। सुन्दर जल-प्रपात दृष्टिगोचर हुआ। वहीं देखा कि किस प्रकार पेड़ के पत्ते इत्यादि धीरे-धीरे पत्थर के रूप में परिवर्त्तित हो रहे हैं। वहीं से कुछ कन्द-मूल भी उखाड़ लाया। जल-प्रपात के नीचे स्नान करते ही रास्ते की सारी थकावट दूर हो गई। लौटकर नीचे आया तो गरुड भगवान् के मन्दिर के पास बैठा। इस यात्रा के रक्षक वे ही हैं। लोगों का विश्वास है कि उनकी ही कृपा से सारी यात्रा निर्विघ्न समाप्त होती है और राह की थकावट कुछ भी नहीं मालूम पड़ती। इसीसे आप देखेंगे कि श्रीबदरी-केदार के श्रद्धालु यात्री जब तीर्थयात्रा को अग्रसर होते हैं, तब उनके मुँह से बार-बार यही निकलता है—"बोलो बदरी-विशाललाल की जय, बाबा केदारनाथ की जय, गरुड भगवान् की जय!"

उस बार भी मैंने देखा कि बहुत-से यात्री बदरी-केदार को जा रहे हैं। बूढ़े, बूढ़ी, बच्चे, जवान, सभी थे। उन्हें देखकर मेरे हृदय में भी उत्साह हुआ। पंडे से बातें कीं। मालूम हुआ, आगे भी रास्ता वैसा ही है। फिर क्या था, निश्चय कर लिया कि जरूर जाऊँगा। किन्तु उस बार भी बात वहीं तक रही। वहीं से घर लौट आया। पटने में बातें कीं 'माय' से—अपनी धर्मपत्नी की पूजनीया जननी से; क्योंकि मेरी अपनी माँ तो है नहीं! बस,

इन्हीं को पाकर मा के अभाव की पूर्त्ति करता हूँ। वे तीनों धाम घूम चुकी थीं। बस, बाकी रह गया था यही बदरी-धाम। उन्होंने बड़ी उत्कट इच्छा प्रकट की। मैंने भी साथ चलने का वचन दिया। किन्तु, विश्वास नहीं होता था अपने भाग्य पर। जी में आता था, क्या सचमुच वह अवसर भी आवेगा—"जब इन नयनों से देखूँगा मैं वह गिरिवर प्यारा ?"—बस रह-रहकर यही विचार उठता था।

[२]

आखिर सन् १९३३ की गर्मी की छुट्टियों में वह स्वर्ण-संयोग भी आ ही पहुँचा। मेरे पास खबर आई कि छपरे से रायसाहब बाबू शुकदेवनारायण डिप्टी के साथ एक बड़ी पार्टी बदरीनाथ जा रही है। वे रिश्ते में 'माय' के चाचा होते हैं और उन्हीं के साथ वे तीनों धाम घूम आई थीं; इस बार वे उन्हीं के साथ जाना चाहती हैं। मुझसे उन्होंने पत्र द्वारा जाने की बात पूछी। भला मैं ऐसा सुअवसर कब छोड़नेवाला! खासकर जब तिथि अनुकूल हो; क्योंकि ग्यारह मई (गुरुवार) को पटने से प्रस्थान करने की बात थी।

मैं यूनिवर्सिटी की चौकीदारी से फुर्सत पाकर, परीक्षा-फल इत्यादि आफिस को सौंपकर, सीधे पटने गया। वहीं मालूम हुआ, बात पक्की है। छपरे गया, डिप्टीसाहब से ट्रेन आदि का निश्चय करने के लिये। फिर मुजफ्फरपुर गया अपने बड़े भाई श्रीराजरञ्जनप्रसादसिंहजी से बिदा होने।

जब अपने परिवारवालों से विदा होकर मुजफ्फरपुर से चला, मालूम हुआ, मानों यात्रा शुरू हो गई। शाम का समय था। घाटवाली ट्रेन अपनी मतवाली चाल से झूमती हुई 'पलेजा' की ओर जा रही थी। बाहर का दृश्य सुन्दर था; किन्तु मेरा ध्यान उस ओर न था। मेरा मन तो उस स्वर्गीय प्रदेश का कल्पित चित्र अपनी आँखों के आगे खींच रहा था, जिसकी सुषमा पर मोहित होकर न जाने किस काल से हमारे अनेकानेक धर्मप्राण—प्रकृति के उपासक—बराबर जाते ही रहते हैं। मेरे मन में भावों का उद्रेक हुआ और ट्रेन में ही बैठा-बैठा गुनगुनाने लगा—

अरे बटोही, चल उस ओर।
प्रकृति-नटी जहँ नटवर के गुण गाती है हो प्रेमविभोर।"

अरे बटोही, चल उस ओर।

जहाँ सुनाती है विहगावलि नित उठि मीठी तान।
कुसुमावलि सूने में करती जहाँ सतत मधुदान।
मतवाला अलिवृन्द जहाँ लेता मकरन्द बटोर॥ अरे०॥
जहाँ सदा हो मस्त हवा चलती मतवाली चाल।
शीश हिलाकर देते तरुवर पत्तों से मृदु ताल।
शीतल पवन जहाँ देता है कलियों को झकझोर॥ अरे०॥
मेघावलि उड़ती फिरती है जिसके चरण-समीप।
जहाँ चमककर चपला अनुछन दिखला जाती दीप।
उमड़-घुमड़कर जहाँ कभी घिर आता है घनघोर॥ अरे०॥

पथ के पथरीले विघ्नों को कर विदीर्ण सहरोष।
जहँ अनन्त की ओर भागती है सरिता बेहोश।
विजय-गर्व में करती हैं मतवाली लहरें शोर॥ अरे०॥
अटल तपस्वी-से जहँ गिरिवर पा करके सुनसान।
शान्त मौन हो करते हैं उस निर्विकार का ध्यान।
एक भाव से हिम-आतप में करते तपस् कठोर॥ अरे०॥
हिम को ऊँची चोटी पर ऊषा आकर मुसकाती।
रवि की किरणें जगमग करतीं, ज्योत्स्ना ज्योति बढ़ाती।
शीश उठाकर सदा चूमता है जो नभ के छोर॥ अरे०॥
भागीरथी जहाँ करती है निशि-दिन मंगल गान।
मन्दाकिनी अलकनन्दा करतीं सप्रेम आह्वान।
आओ, चलकर लेवें उनके जल के विमल हिलोर॥ अरे०॥
श्रीबदरी-केदार जहाँ पर करते हैं विश्राम।
चलो, आज देखें प्रभु का प्रिय दिव्य रम्य वह धाम।
सफल जन्म कर लें पा करुणामय की करुणा-कोर॥ अरे०॥

मैं आनन्दातिरेक से विभोर हो उठा। 'महेन्द्र' पहुँचते-पहुँचते वह गीत तैयार हो गया। पटने पहुँचकर मैंने उसे अपनी दिनचर्या (डायरी) में उतार लिया और रात-भर रह-रहकर वही गुनगुनाता रहा।

दूसरे दिन मैं यात्रा के लिये आवश्यक चीजों की खरीदारी में लग गया। छाता, जूता, कपड़ा-लत्ता, साबुन इत्यादि-इत्यादि। जूता कनवास का ही खरीदा; क्योंकि इस यात्रा में वही जूता खूब

काम देता है। एक चप्पल भी ले लिया। हजामत बनाने के सामान—छुरी, कैंची आदि—भी ले लिये।

उसके बाद दवाएँ लेने भिषगाचार्य पंडित ब्रजविहारी चौबे के यहाँ गया। उन्होंने अपनी इच्छा से वे सारी दवाएँ दे दीं, जिन्हें उन्होंने यात्रा के लिये आवश्यक समझा। मेरा अनुभव मुझे बतलाता है कि यदि वे दवाएँ साथ न रहतीं, तो मुझे बहुत-सी मुसीबतों का सामना करना पड़ता। उनमें भी बुखार की दवा, सर्दी की दवा और आँव की दवा ने तो बहुत-से यात्रियों का उपकार किया; और इनकी बदौलत मैं एक छोटा-मोटा वैद्य ही बन गया! 'अमृतधारा' की एक शीशी ने भी बड़ा काम किया। इन दवाओं से बहुत सहारा मिला।

एक छोटा-सा अटैची-केस खरीदा, जिसमें यात्रा के जरूरी सामान रख लिये। मुँह धोने के लिये—ब्रश, पेस्ट, जीभी। हजामत के लिये—सेफ्टी रेजर, दो दर्जन ब्लेड, ब्रश, साबुन, नेलक्लिपर, कैंची, आइना। स्नान के लिये—साबुन, लाइम-जूस, कंघी। कार्ड, लिफाफे, कागज, फौंटेन पेन, स्याही, दवाएँ आदि भी अटैची में ही रख लीं।

एक थर्मोफ्लास्क * और छोटा-सा कैमरा भी ले लिया। बिछावन के लिये कम्बल, चादर, तकिया। पहनने के लिये चार पतली धोतियाँ, दो कुर्ते और गंजी। ऊनी मोजा, मफलर, टोपी, गर्म कोट, गर्म कुर्ता, चूड़ीदार पाजामा। ओढ़ने के लिये एक कम्बल और ऊनी चादर, साथ ही अपना गर्म ड्रेसिंग-गाउन भी ले लिया। एक छाता भी खरीद लिया। मा ने घी का टिन, लालटेन, छोटी बाल्टी, टिफिन-कैरियर भी ले लिये। और कुछ अना-

वश्यक सामान भी हमारे पास थे, जिन्हें हमें हरद्वार में ही अपने एक मित्र के यहाँ छोड़ देना पड़ा।

इस प्रकार सब सामान से लैस होकर हमलोग यात्रा के लिये बिलकुल तैयार हो गये।

卐

* गर्म दूध या गर्म पानी या बर्फ रखने का ताप-मान-रक्षित पात्र

यात्रा का प्रारम्भ

पटने से हरद्वार

[१]

ग्यारह मई सन् १९३३ गुरुवार को हमलोग अपने परिवार-वालों से विदा होकर पटने से रवाना हुए। अब सारा परिवार दो ही आदमियों में सीमित हो गया था—माय थीं और मैं था। और साथ में था सेवा-सुश्रूषा के लिये 'फेकू' नौकर। ट्रेन थी दस बजे दिन वाली। प्रोग्राम था उस दिन बनारस उतर जाने का।

जिस डब्बे में हमलोग सवार हुए उसीमें यात्रियों का एक और बड़ा-सा दल था, जो हमारे ही गन्तव्य स्थान की ओर जा रहा था। कितना बड़ा आकर्षण है भगवान् बदरी-विशाल का !

आरा में बाबूजी (मेरी पत्नी के पिताजी) आये। उनसे मालूम हुआ कि पुलिस-इन्स्पेक्टर पंडित रामजनम तिवारी भी डिप्टी-साहब के साथ जायँगे और छपरे के स्टेशनमास्टर पंडित जनकलाल झा लखनऊ में उनके साथ हो जायँगे।

हमारी ट्रेन आगे बढ़ती चली और वे ही चिर-परिचित स्थान आँखों के आगे आते गये। डुमराँव आया—मेरा जन्मस्थान।

मन-ही-मन उसे प्रणाम किया। बक्सर आया, जिसके साथ हमारे अतीत की कितनी ही स्मृतियाँ गुँथी हुई हैं। अन्त में आया राजघाट (काशी) का पुल, जिसपर होकर न जाने कितनी बार आया-गया हूँ; किन्तु उस दिन जब उसपर पहुँचकर मैंने पतित-पावनी भागीरथी की निर्मल जलधारा देखी, तब मन में अजीब भाव का उद्रेक हुआ। मैं आप-ही-आप गुनगुनाने लगा और साथ-ही-साथ उस चलती ट्रेन में अपनी दिनचर्या के पृष्ठ भी रँगने लगा। मेरे वे टेढ़े-मेढ़े अक्षर आज भी मुझे उस हिलती ट्रेन की याद दिला रहे हैं। मैं गंगा को उद्देश्य करके लिख रहा था—

अरी देवि, बतला दे,
क्या तू उसी देश से आती है?
जिसकी छवि की छाया
मेरे मानस को ललचाती है॥
मम मानस-नयनों के सम्मुख
आता है तव पितृ-प्रदेश।
हिम-मंडित वनराजि सुशोभित
सौम्य, शान्त, सुन्दर वह वेश॥
तजकर वह स्वर्गीय विभव
क्यों मर्त्यलोक में आई है?
नीची पंकिल भूमि बोल क्यों
यों तेरे मन भाई है?

अथवा तेरे यों आने का
　　　　है कोई कारण गम्भीर?
जिससे प्रेरित हो आती है
　　　　विह्वल-सी तू परम अधीर॥
छोड़ पितृगृह के सारे सुख
　　　　पगली-सी हो आत्म-विभोर।
उतावली-सी सुध-बुध खोकर
　　　　जाती है सागर की ओर॥
अथवा हम सन्तप्त जनों के
　　　　हरने को सारे सन्ताप।
विभवों से मुँह मोड़
　　　　दूसरों-हित भूतल पर आती आप॥

× × × ×

जाता हूँ तेरे पीहर को
　　　　कह जो कहना हो सन्देश।
तेरी बातें सुनने को
　　　　आकुल होगा तव पितृ-प्रदेश॥
तेरे सुख-दुख की सब गाथा
　　　　जाकर वहाँ सुनाऊँगा।
नानिहाल के नाते मैं भी
　　　　कुछ तो आदर पाऊँगा॥

अन्तिम लाइन पर मुझे स्वयं हँसी आ गई; किन्तु हास्य-

जनक होने पर भी उस कल्पना ने मुझे बहुत-कुछ सहारा दिया। आखिर गंगा-मैया का पितृ-प्रदेश हमारा ननिहाल नहीं तो और क्या है ?

उस दिन के प्रोग्राम के अनुसार बनारस ही उतरा। चिर-अभ्यासानुसार बनारस-छावनी उतरने पर जब गाड़ीवाले ने पूछा, तब जबान पर 'नगवा' का ही नाम आया। आखिर उसी घर में आया, जहाँ आज भी रहता हूँ; किन्तु उस दिन वहाँ बिल्कुल यात्री के रूप में ठहरा—अपने ही घर में दूसरे का मेहमान बन-कर रहा !

दूसरे दिन, शुक्रवार ता० १२—५—३३ को, दशाश्वमेध-घाट पर स्नान किया और भगवान् विश्वनाथ के दर्शन कर फिर स्टेशन आया। देहरा-एक्सप्रेस से जाना था। थोड़ी ही देर में वह भी आ पहुँची; पर भीड़ इतनी अधिक थी कि खड़े होने की जगह भी मुश्किल से मिली—'रवि शुक्र जो पश्चिम जाय, हानि होय पथ सुख नहिं पाय।' आगे भी आराम की जगह मिलेगी, ऐसी आशा न हुई। अस्तु, जौनपुर में थर्ड से इंटर में आ गया।

वहीं, प्लैटफार्म पर ही, डिप्टी-साहब (शुकदेव बाबू) मिल गये। पंडित रामजनम तिवारी और बाबू ब्रह्मदेवसिंह वकील भी उनके साथ ही थे। वे सभी उसी ट्रेन से बदरी-नारायण की ओर जा रहे थे; किन्तु हमें इसका पता न था। लखनऊ में पंडित जनकलाल झा (स्टेशन-मास्टर, छपरा) हमलोगों के साथ हो गये। रायबहादुर बाबू दुर्गाप्रसाद कलक्टर की धर्मपत्नी और बहन भी उनके साथ थीं।

ट्रेन में ही बदरी-नारायण के पंडे भी मिले। इन लोगों को
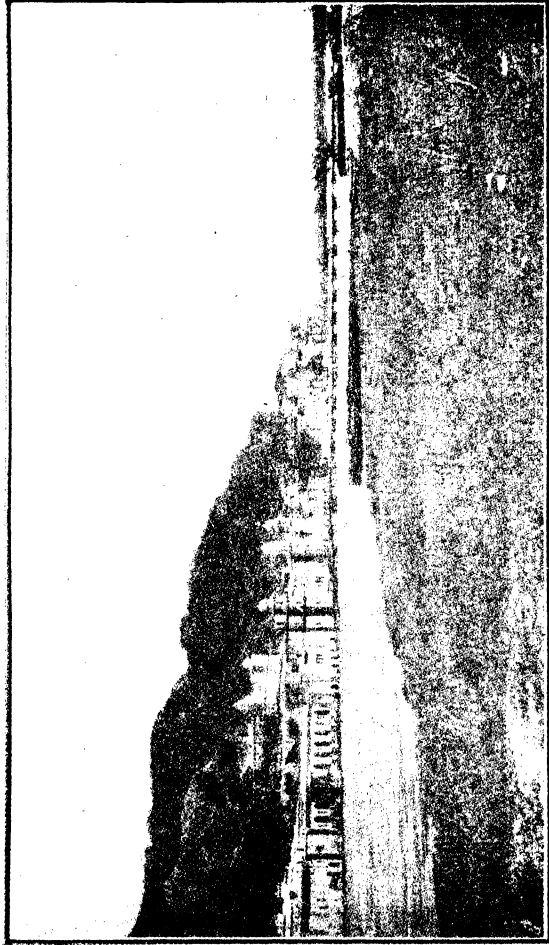
गंगा पार से हरद्वार का दृश्य [पृष्ठ १७]

यात्रियों की गन्ध-सी मालूम हो जाती है। यही इनका रोजगार है। शायद अभ्यासानुसार इनमें यात्रियों को पहचानने की कुछ शक्ति-सी आ जाती है। बड़ा ही कठिन होता है इनका 'क्रास एग्जामिनेशन' (Cross Examination)—क्या कोई वकील जिरह करेगा !

शनिवार ता० १३-५-२३ को सुबह हमलोग हरद्वार पहुँच गये। ताँगे पर किनारे आये। गंगातट पर ही पक्के यात्री के समान एक मकान में ठहरे। सामने गंगा घहरा रही थी—

तू घहर-घहर घहराती है
क्यों इतना शोर मचाती है ?
किन बाधाओं से विह्वल हो
पगली-सी भागी जाती है ?

(२)

हमलोगों को बैठे अभी थोड़ी देर भी न हुई थी कि झुंड-के-झुंड पंडे, बाबा आदम के जमाने की पोथियाँ लिये, आ पहुँचे और एक साथ प्रश्नों की गोलाबारी करने लगे—"बाबूजी, आप कहाँ से आये हैं ? कौन जिला है ? कौन देश है ? पिता का नाम क्या है ? आपके यहाँ से पहले कोई आया था वा नहीं ?" इत्यादि-इत्यादि।

इतना ही नहीं, वे अपने-अपने पोथे खोलकर पढ़ने भी लग गये, सुनाने लग गये, गले पड़ गये ! कुछ कहने पर बोले—"बाबूजी, यही हमारी खेती है, इसे नष्ट न कीजिये।"

लेकिन यहाँ के पंडों में मैंने एक विशेषता देखी। वे उद्दंड नहीं

होते और यात्रियों की सेवा भी प्राणपण से करते हैं। इस पहाड़ी यात्रा में यात्री को इनसे आराम भी काफी मिलता है। अनजान आदमी के लिये इस अनजान देश की यात्रा असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है, और ऐसे अवसर पर पंडों से ही सहायता काफी मिलती है। फिर भी मैं इन्हें 'गाइड' (पथप्रदर्शक) से बढ़कर नहीं समझता। इनमें अधिकांश निरक्षर भट्टाचार्य होते हैं, जिन्हें संकल्प के मन्त्र पढ़ना भी ठीक-ठीक नहीं आता; और शायद ये ब्राह्मण-कर्म भी बहुत ही कम जानते हैं। संतोष का विषय है कि इनमें अब कुछ का ध्यान पढ़ने-लिखने की ओर आकृष्ट हो रहा है; किन्तु ऐसों को संख्या बहुत ही कम है।

वे ही हमारे पुराने जमाने के होटल थे और अब भी बहुत अंशों में वे वही काम करते हैं। उनके साथ उनके नौकर रहते हैं, जिनमें प्रधान भृत्य को 'गुमाश्ता' कहते हैं। इनका काम रहता है यात्रियों की निगरानी करना, जिसमें वे कहीं इधर-उधर भटक न जायँ। साथ-ही-साथ ये नये यात्री भी फँसा लाते हैं। यात्रा का लगभग सारा प्रबन्ध इनके ही हाथों में रहता है।

तदनुसार हमलोगों की मंडली का प्रबन्ध भी इनके ही हाथों में रहा। यहाँ यह लिख देना अनुचित न होगा कि उस मंडली में सबसे छोटा मैं ही था। इसीसे आपको श्रीबदरी-केदार के यात्रियों का अनुमान हो जायगा।

हमारे सभी साथियों ने मिलकर अपना एक पंडा ठीक किया था, जो छपरे से ही उनके साथ आ रहा था। उन लोगों के लिहाज से मैंने भी उसे अपना पंडा बना लिया—यद्यपि कई कारणों से मुझे अन्त में उसे छोड़ देना पड़ा।
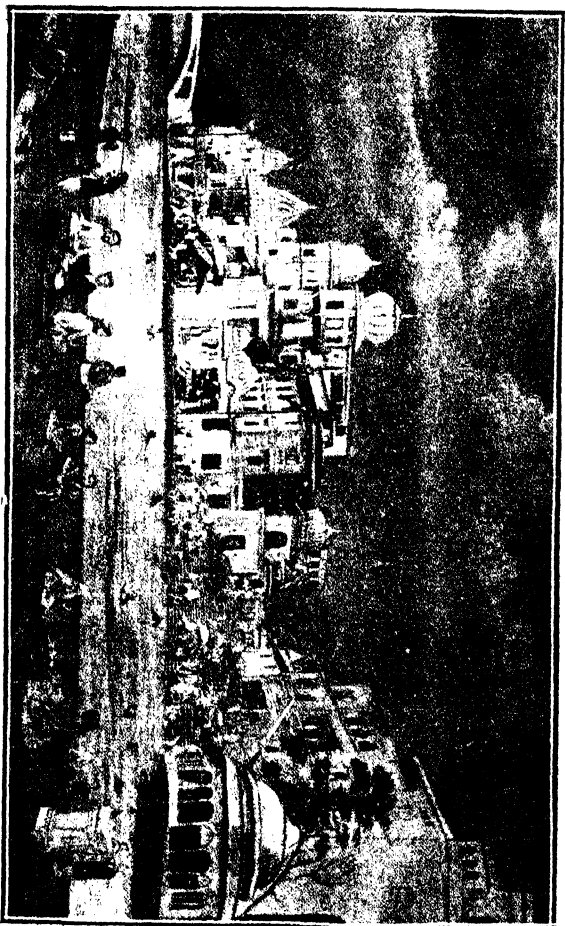
'हर की पैड़ी' के सामने गंगा-तट पर हरद्वार नगर का दृश्य

मा का पंडा दूसरा ही था। उसने भी अपना एक गण हम लोगों के साथ लगा दिया। वही सारी राह मेरा बिस्तर ढोकर ले गया! उससे मुझे बहुत आराम मिला। उसका स्वभाव बहुत अच्छा था, जैसा प्रायः प्रत्येक पहाड़ी का होता है।

खैर, कुछ देर आराम करने के बाद सभी लोगों ने गंगा-स्नान करके पिंड-दानादि किया। मैंने भी किया। सोचा, चलो, लगे हाथों यह भी हो जाय; क्योंकि लोग कहते हैं कि हरद्वार, देवप्रयाग तथा ब्रह्म-कपाली में श्राद्ध कर लेने के बाद फिर कहीं भी श्राद्ध करने की आवश्यकता नहीं रह जाती—श्राद्ध का सिलसिला ही समाप्त हो जाता है!

तीर्थ-क्रिया समाप्त कर लोग यात्रा के प्रबन्ध में लगे। कुलियों का और सवारी का प्रबन्ध यहीं कर लेना अच्छा होता है; क्योंकि आगे बढ़ने पर हैरानी तो होती ही है, पैसे भी अधिक लग जाते हैं। यहाँ सौदा सस्ते में ही पट जाता है।

बातों के सिलसिले में मुझे मालूम हुआ कि कुली पैंतीस रुपये मन सामान की ढुलाई ले रहे हैं; अतः सामान जितना ही कम हो उतना ही अच्छा। मैंने विचार कर देखा तो ऐसा खयाल हुआ कि हम अपना बोझा हलका कर सकते हैं और एक ट्रंक यहीं छोड़ जा सकते हैं। फिर चिन्ता हुई कि किसके यहाँ छोड़ें। इस रास्ते लौटना भी नहीं है, नहीं तो किसी भी मित्र के यहाँ छोड़ जा सकते थे। किन्तु उस समय तो मुझे ऐसा आदमी चाहिये था, जो सारा सामान रख भी ले और उसे समय पर बनारस (हिन्दू-विश्व-विद्यालय) भी पहुँचा दे।

मुझे एकाएक केशवदेवजी की याद आ गई। वे हमारे ही

विद्यार्थी हैं और इन दिनों यहां ठहरे हुए हैं। सोचा, उन्हींको ढूँढ़ निकालने से समस्या बहुत-कुछ हल हो जायगी। मैंने हिन्दू-विश्व-विद्यालय की विशेषता का उसी समय अनुभव किया। जहाँ-कहीं भी जाइये, आपको कोई-न-कोई अपना विद्यार्थी वा मित्र अवश्य ही मिल जायगा। कितना आनन्द आता है एक अपरिचित स्थान में अपना परिचित व्यक्ति पाकर—कौन कह सकता है ?

अस्तु, दोपहर में कनखल गया। पंडित रामचन्द्रजी वैद्य के यहाँ से उनका पता लगाता हुआ नहर के किनारे पंजाब-क्षेत्र में पहुँचा। वहीं वे मिल भी गये। उनके साथ पहले मुक्तिपीठम् में आचार्य शुद्धबोधजी तीर्थ के यहाँ गया। कौन जानता था कि वही हमारा उनका अन्तिम दर्शन होगा !

वहाँ से ज्वालापुर-महाविद्यालय गया। गुरुवर नरदेव शास्त्री मिले। वे 'उत्तराखंड' की यात्रा कर चुके थे। उन्होंने अपने कतिपय मित्रों के नाम कुछ पत्र दिये, जिनसे मुझे बहुत ही सहायता मिली। यदि उनके पत्र मेरे साथ न रहते तो कम-से-कम बदरीनाथ-धाम में मुझे बहुत ही कष्ट होता।

इस प्रकार सब कुछ ठीक-ठाक कर हमलोग फिर वापस हरद्वार आये। केशवदेवजी को मैंने अपना ट्रंक सौंपा और स्वयं दूसरे दिन की तैयारी कर बिछावन पर लेट रहा। पास ही पहाड़ी नदी घहरा रही थी। जान पड़ता था, मानों सावन-भादो की अनवरत वर्षा हो रही हो।

卐
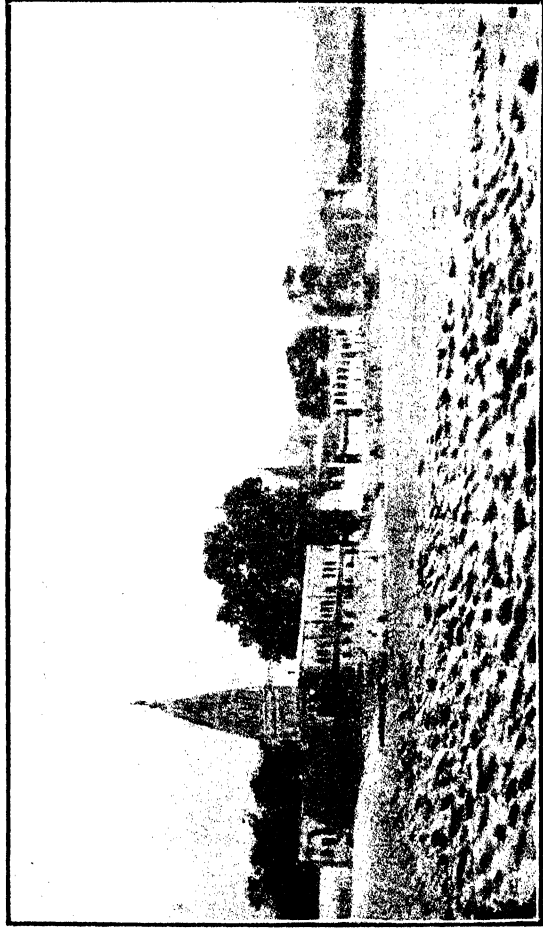
हरद्वार में, गङ्गा की मध्य धारा में, 'हर की पैड़ी' का दृश्य [पृष्ठ २१.]

उत्तराखंड के पथ पर—(पृष्ठ २१)

ऋषिकेश (हृषीकेश)

लक्ष्मण-झूला
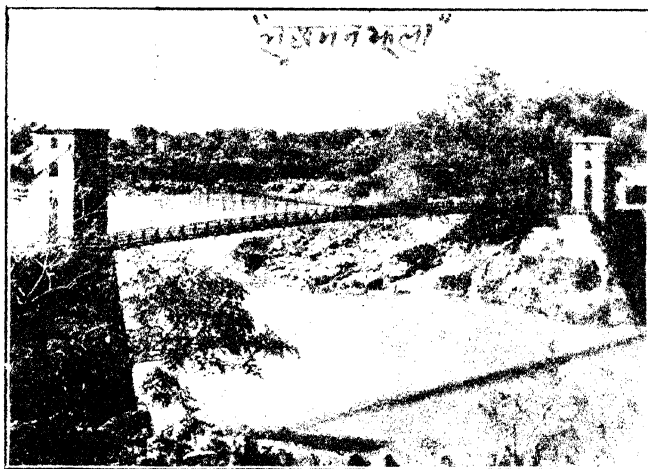
ऋषिकेश और लक्ष्मणझूला

रविवार ता० १४-५-३३ को ताँगा द्वारा हमलोग ऋषिकेश चले। 'हर की पैड़ी' वाले घाट से कुछ हटकर एक ओर जहाँ चढ़ाई शुरू होती है, एक बुलन्द दरवाजा-सा दृष्टिगोचर होता है। ठीक मालूम होता है कि हम किसी द्वार में प्रवेश कर रहे हैं और वह द्वार किसी पर्वत का है। चढ़ाई साफ मालूम हो जाती है। धीरे-धीरे-धीरे—ऊपर का ओर!

थोड़ी ही दूर पर 'भीमगोडा' मिलता है। हरद्वार की रेलवे-लाइन की दूसरी सुरंग (Tunnel) के पास, जहाँ पहाड़ के अन्दर-अन्दर ट्रेन लाई गई है, (भीमगोडा में) एक सुन्दर निर्मल तालाब है, जिसमें झरने के जल के आने का और पानी के बाहर निकलने का प्रबन्ध है। इसके किनारे पञ्चपांडव द्रौपदी आदि की मूर्त्तियाँ हैं। लोग कहते हैं कि अपनी अन्तिम यात्रा में भीम ने यहीं पानी निकाला था। यहाँ मैं पहले भी दो-तीन बार आ चुका था, अतः इस बार रुका नहीं, आगे बढ़ता गया।

चौड़ी अच्छी-सी सड़क मिली। दोनों ओर सघन जंगल। किनारे-किनारे ऊँचे-ऊँचे पेड़। सात मील पर सत्यनारायणजी का मन्दिर मिला। वहाँ उतरकर देवता के दर्शन किये। मन्दिर के चारों ओर सुन्दर निर्मल जलधारा लाई गई है। ऊपर से आती

हुई पहाड़ी नदी की एक धारा इस ओर कर दी गई है। द
इधर की मशहूर नदी है—'सोंग'। इसे 'घोड़ा-पछाड़'
कहते हैं !

इसे पहले भी दो बार भिन्न-भिन्न जगहों पर देख चुका था
एक तो देहरादून के पास, जब 'नारायण मुनिजी' तथा वहाँ
के कतिपय मित्रों के साथ 'पिकनिक' को गया था। वहाँ इसका
धारा बिल्कुल पतली मिली थी; किन्तु दूसरी बार जब इसे देखा
तब पिछली बात याद कर इसके 'घोड़ा-पछाड़' नाम की सार्थ-
कता मालूम हुई !

भोगपुर से मैं डोईवाला स्टेशन जा रहा था। बीच में यह
नदी मिली। मैं घोड़े पर सवार था; पर पार करने की हिम्मत
न हुई। सामने देखा—मेरे मित्र का घोड़ा बीच पानी में तल-
मला उठा; तिस पर वे कुशल सवार थे और मैं था बिल्कुल
अनाड़ी। साथ के सईस ने कहा—"बाबूजी, आप घोड़े की पूँछ
पकड़ लें, मैं पार करा दूँगा।" मैंने वैसा ही किया ! नदी में
पानी कम था; किन्तु धारा बड़ी तेज थी। नीचे पत्थर पर जान
पड़ता था मानों कोई पैर मरोड़ रहा हो। बड़ी मुश्किल से इस
पार आया। लोग गाय की पूँछ पकड़कर वैतरणी पार होते हैं,
मैंने घोड़े की पूँछ पकड़कर 'सोंग' को पार किया ! उस समय
मुझे उसका 'घोड़ा-पछाड़' नाम नहीं मालूम था; किन्तु इस बार
जब यह नया नाम सुना तब पुरानी स्मृति जाग उठी। सुना था
कि बरसात के दिनों में इसे पार करना असम्भव-सा हो जाता
है—अपनी प्रबल धारा में यह हाथी तक को बहा ले जाती है !

सत्यनारायण से चलकर हमलोग सीधे ऋषिकेश ही में
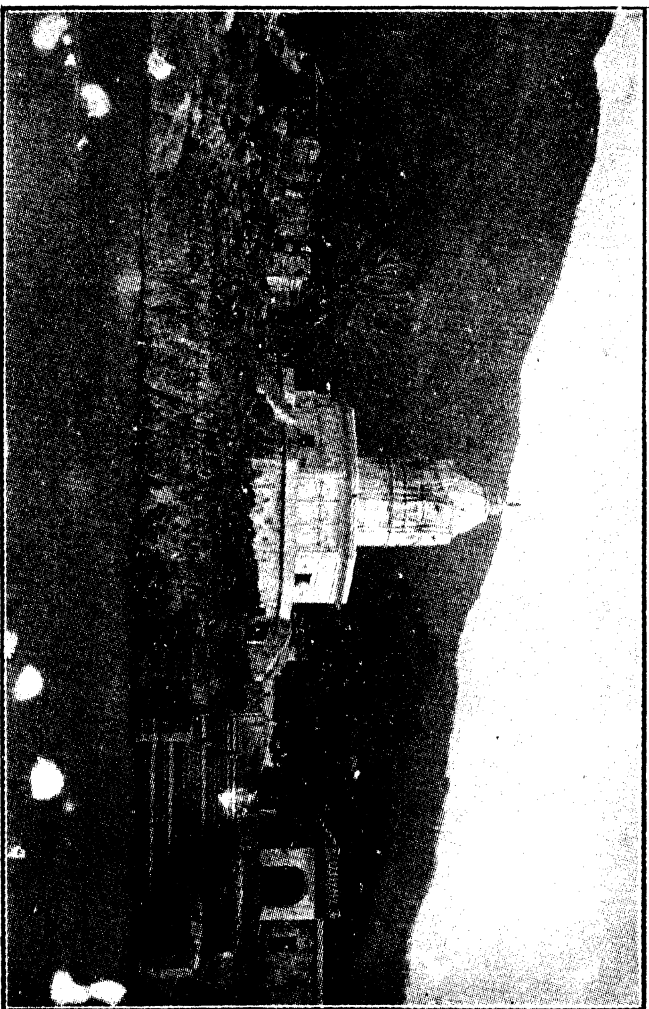
स्वर्गाश्रम—[ऋषिकेश (हृषीकेश) और लक्ष्मण-झूला के बीच में]—पृष्ठ २३

रुके और भरत-मन्दिर में ठहरे। वहाँ के महन्त के सुपुत्र श्री शान्तिप्रपन्न शर्मा हिन्दू-विश्वविद्यालय में हमारे विद्यार्थी रह चुके थे। वहाँ पहुँचकर हमने उनकी खोज की; पर वे मिले नहीं। फिर भी हमें कोई कष्ट नहीं हुआ।

भरत-मन्दिर से गंगा का दृश्य बड़ा ही सुहावना है। वहाँ अपने सारे सामान रखकर हमलोग गंगा-स्नान को गये। लौटते समय होटल में रोटी खाई। दो वर्ष पहले ठीक उसी स्थान पर अपनी धर्मपत्नी के साथ तन्दूर की रोटी खाई थी; किन्तु इस बार न वह तन्दूर था, न वह रोटी। कानपुरी मैदे की रोटी मिली। पेट भी न भरा। राह में ब्रह्मचारी चक्रधर की 'बदरीनारायण-पथप्रदर्शिका' ढाई आने में खरीदी। फिर सब, से अलग होकर 'बाबा काली कमलीवाले' की धर्मशाला में गया।

यह संस्था वास्तव में अपूर्व है। इसके कारण यात्रियों का जितना उपकार हुआ है और होता है, थोड़े में उसका वर्णन नहीं हो सकता। ऐसा उत्तम प्रबन्ध, ऐसा प्रेमपूर्ण और सुन्दर व्यवहार मैंने कहीं भी नहीं देखा है। यहाँ कितनों को भोजन मिलता है, ठहरने की जगह मिलती है, रोगियों की दवा होती है। इसका आयुर्वेद-विभाग बड़ा ही उत्कृष्ट है तथा उसके प्रिन्सिपल दयानिधिजी बड़े ही सुयोग्य तथा विद्वान् व्यक्ति हैं। उनके सहकारी श्रीशिवदत्तजी का स्वभाव भी बहुत सुन्दर है।

मैं सबसे पहले श्रीदेवकीनन्दनजी गुप्त से मिला। वे बड़े ही उत्साही कार्यकर्त्ता हैं। उनसे मिलकर मुझे बहुत आनन्द प्राप्त हुआ। उनसे सहायता भी पूरी मिली। उन्होंने मुझे श्री बाबा

काली कमलीवाले की पूरी कार्यवाहियाँ दिखलाईं। विस्तार-भय से यहाँ उनका जिक्र नहीं कर रहा हूँ।

खैर, सब कुछ देखने-सुनने के बाद मैं वहाँ के वर्त्तमान पदाधिकारी श्री १०८ बाबा मनीरामजी से मिला। थोड़ी-सी भेंट चरण पर चढ़ाई। फिर उनसे यात्रा की सुविधा के लिये चौकीदारों और सदावर्त्तियों के नाम चिट्ठी ले ली। दो दवाएँ भी मिलीं। एक तो पानी न लगने की दवा और दूसरी पेट की शिकायतों की दवा। पहली दवा का सेवन तो बराबर नियमपूर्वक करना चाहिये। इसमें शिथिलता करने से प्रायः बहुत कष्ट उठाना पड़ता है।

मैंने वहीं से रास्ते का नक्शा, चट्टियों की सूची, सदावर्त्त की सूची इत्यादि भी ले ली। वहीं हमें श्री १०८ बाबा रामनाथ की तस्वीर और माला भी मिली। प्रिन्सिपल दयानिधिजी से मैंने पथ-श्रम दूर करने की दवा, सर्दी की दवा और पाचक की एक शीशी ले ली।

इस प्रकार यात्रा की तैयारी कर हमलोग उसी दिन तीन बजे वहाँ से चल पड़े। शान्तिप्रपन्नजी तबतक आ गये थे। उन्होंने रुकने का आग्रह भी किया; किन्तु कूच बोल दी गई थी, रुकता कैसे?

डेढ़ मील पर 'मुनी की रेती' मिली। वहाँ पहुँचकर कुलियों और सवारी का सट्टा करना पड़ा। टेहरी-राज्य के कर्मचारी के सामने सामान तौले गये। फिर कुलियों के नाम वहीं चिट्ठी भी ले ली गई और वहीं कुछ 'पेशगी' भी देनी पड़ी। बड़ी देर लगी वहाँ पर। झंझट भी कम न हुई। थोड़ी-सी

जमीन तो पड़ती है टेह्री-रियासत में; किन्तु उसीके लिये कुलियों को काफी टैक्स देना पड़ता है !

हमलोगों के दल में तीन डाँडियाँ हुईं। यही यहाँ की सबसे अधिक सुविधा-जनक सवारी है। इसके बाद झम्पान—तब कंडी और घोड़ा। डाँडी कुछ-कुछ आराम-कुर्सी की तरह होती है। इसपर पैर फैलाने और तकिया के सहारे बैठने का प्रबन्ध रहता है। चार कुली इसे उठाते हैं। झम्पान हल्की मचिया-सा होता है, जिसके बीच में बाँस का डंडा डालकर चार कुली उठा ले चलते हैं। इस पर एक आसन से बैठे ही रहना पड़ता है। कंडी पर तो सबसे अधिक कष्ट होता है। एक डोलची में बैठाकर बिल्कुल गठरी-सा पीठ पर लाद लेते हैं—बहुत बुरा मालूम होता है !

मर्दों की सवारी है घोड़ा। यद्यपि यहाँ के घोड़े कुछ ऐसे सूधे होते हैं कि मैंने कितनी ही औरतों को भी घोड़े पर सवार देखा; तथापि जो आनन्द पैदल यात्रा में आता है वह किसी में भी नहीं। हाथ-पैरवालों की वही शोभा है; और तीर्थ क्या जो पैदल न चले ?

"पद्भ्यां गच्छेन्न वै याने यदीच्छेद्धर्ममुत्तमम्।"

यदि तीर्थयात्रा का फल चाहता है तो मनुष्य पैदल ही चले, सवारी पर न चढ़े। हाँ, यन्त्र-चालित सवारियों की कोई बात नहीं है; किन्तु तीर्थयात्रा में चले और मनुष्य के शरीर पर सवार होकर यात्रा करे, यह भी कुछ अजीब मालूम होता है !

खैर, लोगों ने मुझसे सवारी कर लेने का बहुत अनुरोध किया; किन्तु मैंने पैदल ही सफर करने की ठान ली थी। अतः

मेरे लिये कोई सवारी न हुई। फिर भी दूसरों की सवारी तथा अपने कुली इत्यादि का बन्दोबस्त करते-करते 'मुनी को रेती' पर ही बहुत देर हो गई। वर्षा के भी कुछ लक्षण दिखलाई दिये। अतः लक्ष्मण-झूले से आगे बढ़ने का विचार न हुआ।

'लारी' हमलोगों को 'मुनी की रेती' से और कुछ दूर आगे तक पहुँचा गई—वहाँ, जहाँ पर नरेन्द्रनगर जाने के लिये राह अलग होती है। बस, वहीं से हमारी पैदल यात्रा शुरू हो गई। कुछ दूर जाने पर देखा कि सड़क की मरम्मत हो रही है। मालूम हुआ, वहाँ से देवप्रयाग तक मोटर की सड़क तैयार हो रही है।

राह बन्द कर दी गई थी। अतः पगडंडी का सहारा लेना पड़ा। कठिन चढ़ाई और कठिन उतराई थी। बहुत सँभल-सँभलकर चलना पड़ता था। फिर भी बूढ़े-बूढ़ियों की संख्या कम न थी। सब हिम्मत बाँधे आगे की ओर बढ़ते चले जा रहे थे। उसी समय मैंने एक बुढ़िया को कहते हुए सुना—

"बद्री, पंथ कठिन हम जानी।
प्रथम चढ़ाई लछमन-झूला, सुनु गंगा घहरानी॥"

सचमुच पंथ कठिन था और पास ही गंगा घहरा रही थीं। बस, भगवान् बदरीविशाल का ही सहारा था। उन्हीं की दया से वह पहली मञ्जिल भी तय हो गई। फिर भी लछमन-झूला पहुँचते-पहुँचते काफी अँधेरा हो गया। सारी जगहें घिर चुकी थीं। क्या किया जाय। बड़ी परेशानी मालूम हुई। पहले से पड़ाव पर पहुँचकर जगह न रोकने का नतीजा हाथों-हाथ मिल गया। उसी समय मुझे मुजफ्फरपुर-जिला-स्कूल के हेड-मास्टर

कालिका बाबू की बातें याद आ गईं। उन्होंने सख्त ताकीद की थी कि पहले से आदमी भेजकर जगह अवश्य घेर लेनी चाहिये। श्रीबदरीनाथ-यात्रा में ऐसा करना आवश्यक होता है।

खैर, बड़ी मुश्किल से किसी-किसी तरह श्रीरघुनाथजी के मन्दिर में स्थान मिल गया। वहीं पटने के बाबा बालकदास मिले, जिन्होंने खाने-पीने की जगह का भी प्रबन्ध कर दिया। सोने की भी जगह मिल गई। सभी लोग सारी रात आराम से सोये। किन्तु मेरी आँखों में चैन की नींद कहाँ! मैं तो सामने देख रहा था—पौने चार सौ मील का लम्बा सफर और अपनी पैदल यात्रा का प्रण! अपरिचित अनजान देश, जहाँ रेल नहीं, मोटर नहीं, जल्दी आने-जानेवाली कोई सवारी नहीं, कोई सगा नहीं, सम्बन्धी नहीं। जहाँ खबर पहुँचने में कितने दिन लग जाते हैं, उसी देश में जाना है—जहाँ जंगल हैं, पहाड़ हैं, ऊबड़-खाबड़ हैं, बर्फ से ढँकी पगडंडी है।

मैंने एक बार बाहर आकर देखा। चाँदनी खिली हुई थी। रजनी नीरव थी, निस्तब्ध। पहाड़ की ऊँची चोटी पर चाँद के प्रकाश में पेड़ों के पत्ते हिल रहे थे। पास ही गंगा की चपल तरंगों पर चन्द्रमा की किरणें नाच रही थीं, और सामने जा रहा था धुँधला-सा अस्पष्ट—उत्तराखंड का पथ। मैं कमरे में आकर लेट रहा।

रात लगभग बीत चुकी थी। चाँद के ही प्रकाश में उठ गया। फिर भी कुछ देर हो ही गई। बस झटपट प्रातःकृत्य से निवृत्त हुआ। नाश्ता किया। जेब में कुछ मेवे रखे। कंधे के एक ओर छोटा-सा कैमरा और दूसरी ओर थर्मोफ्लास्क लटकाया।

धोती कसकर लपेट बाँधो। जूता पहना। लाठी उठाई। छाता लिया। और, आगे चल पड़ा—उत्तराखंड के पथ पर। उस समय पहाड़ की ऊँची चोटी पर सूरज की किरणें मुस्करा रही थीं।

卐

की

पैदल यात्रा

[१]

"बोलो बदरी-विशाललाल की जय !

बाबा केदारनाथ की जय !

बोलो गरुड भगवान की जय !"

सैकड़ों नर-नारियों की जयध्वनि से आकाश-मंडल गूँज उठा। पहाड़ों से टकराती हुई वह आवाज कोने-कोने में प्रतिध्वनित हो उठी। वह भी एक अजीब दृश्य था। बूढ़े-जवान, स्त्री-पुरुष, अमीर-गरीब, सभी एक ही भाव से अनुप्राणित हो रहे थे। एक ही उद्देश्य था, एक ही ध्येय था, एक ही लालसा थी सबके मन में—भगवान् के दर्शन की। एक ही ओर सभी चल पड़े थे—श्रीबदरी-केदार की ओर।

आसपास चारों ओर पहाड़-ही-पहाड़ थे—सघन वृक्षों से आच्छादित, हरे-भरे। नीचे तीव्र वेग से प्रवाहित हो रही थी भागीरथी—पहाड़ों से टकराती, चट्टानों पर उछलती, पगली-सी अट्टहास करती हुई। जगह-जगह बालू के कण चमक रहे थे—

निर्मल उज्ज्वल मोती के समान। संकीर्ण पर्वत-पथ पर चींटियों की कतार के समान चली जा रही थी जनश्रेणी—भक्तिभाव से प्रेरित। कोई डाँडी पर था, कोई झम्पान पर, कोई घोड़े की पीठ पर, कोई कंडी पर; किन्तु अधिक संख्या थी पैदल यात्रियों की ही। कितनी ही बूढ़ी स्त्रियाँ, बूढ़े पुरुष, लाठी टेकते हुए चले जा रहे थे—बिल्कुल आत्मबल के सहारे। जवान थे कम, लेकिन उनकी तेजी भी देखने ही योग्य थी। द्रुत गति से पद-विक्षेप करते हुए जवानी के जोश में वे आगे बढ़ते चले जा रहे थे—दूसरों पर अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने। कुछ बूढ़े भी उनसे कम नहीं थे—कोई सुरती मलता हुआ, कोई गाँजा फूँकता हुआ, अपनी चाल से जवानों को भी मात कर रहा था। सब-की इच्छा यही थी कि किस प्रकार सबसे आगे पड़ाव पर पहुँच-कर अपने लिये और अपनी मंडली के लिये जगह घेर लें।

हमारे दल के दो युवक-हृदय वृद्ध रात ही हमसे एक पड़ाव आगे चले गये थे। अतएव हमें आशा थी कि वे आगे चलकर हमारे लिये जगह रोक रक्खे होंगे। बात भी कुछ वैसी ही हुई। हमें कोई जल्दी नहीं थी।

मैं अपनी मस्ती में यात्रा का आनन्द उठाता हुआ, आस-पास के सुन्दर दृश्यों की बहार लूटता, जन-समुद्र के साथ ही आगे बढ़ता चला जा रहा था। पास ही बहती हुई भागीरथी का मनोहर दृश्य बरबस आँखों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता था। दोनों ओर के ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों के बीच से बहती हुई तन्वंगी गंगा का वह रूप किसके हृदय पर जादू नहीं डालता?

मैं स्वयं अपने ही रूप पर मुग्ध था। वह सिपाहियाना ठाट,

वह कसकर बाँधी हुई लपेटी धोती, दोनों ओर कंधे से लटके हुए थर्मोफ्लास्क और कैमरा, हाथ की बड़ी लाठी और छाता। कितनी फुर्ती मालूम हो रही थी उस यात्री-वेश में !

लक्ष्मण-झूले से चलकर मैं गरुड़चट्टी पर ही रुका। भगवान् के दर्शन कर लेना आवश्यक था; क्योंकि उनके ही सहारे तो वह यात्रा तय करनी थी। बड़ी ही सुन्दर भव्य मूर्त्ति बनी हुई है उस मन्दिर में। वहाँ यात्री अपने-अपने नाम से—किसी फल का दान करते हैं और उसके लिये पैसे दे जाते हैं। आम, अमरूद, केला, पपीता—सबके रेट बँधे हुए हैं ! इसी प्रकार वहाँ एक सुन्दर बाग तैयार हो गया है, जिसके सघन वृक्षों की छाया यात्रियों के हृदय को आह्लादित करती है।

वहीं, मन्दिर के पास ही, एक सुन्दर बावली है, जो निर्मल जल से बराबर लबालब रहती है। उसके पास सुन्दर छोटो नहर-सी बनी हुई है, जिसके द्वारा ऊपर के झरने से जल आकर उसे बराबर भरता रहता है। उसी बावली के पास बैठकर पथिक मुँह-हाथ धोकर अपना पथ-श्रम दूर करता है, गरुड भगवान् के दर्शन करता है, थोड़ी देर विश्राम करता है, फिर आगे चल पड़ता है अपने गन्तव्य पथ पर।

मैं कुछ ही देर वहाँ ठहरा। उसके बाद आगे बढ़ा। अब रास्ता मेरे लिये बिल्कुल नया था; किन्तु दृश्य वैसे ही सुन्दर रमणीय थे। भागीरथी की धारा बराबर आँखों के सामने थी और दूसरी ओर दिखलाई दे रहा था—रियासत-टिहरी का पर्वत-पथ, जो हमारे साथ लगभग समानान्तर पर चल रहा था।

दो मील और आगे बढ़ने पर फुलवारी-चट्टी मिली, जो

प्रधान पथ से कुछ हटकर नीचे की ओर थी। वह कोई सुव्यवस्थित अवस्था में नहीं थी। उसके कुछ ही दूर आगे एक पतली-सी धारा दिखलाई दी, जो कल-कल करती हुई भागीरथी के जल में प्रवाहित हो रही थी। वही हेमवती गंगा थी। आगे उसी के किनारे-किनारे हमें जाना था। भागीरथी का साथ उस दिन के लिये वहीं छूट गया।

आगे सघन वनस्थली थी। पहाड़ बहुत ऊँचे नहीं थे। पेड़ों की छाया के कारण कुछ विशेष कष्ट न हुआ। दो मील और आगे चलने पर 'घट्टगाड' मिला, जिसे कुछ लोग 'गूलर-चट्टी' भी कहते हैं। यह अच्छी सुन्दर चट्टी है। ठहरने का काफी सुन्दर प्रबन्ध है। पानी भी मिलता है—किन्तु कुछ कसरत से। एक नल है, जिससे काम चल जाता है। बनिये की दूकान से सारे सामान मिल जाते हैं।

बदरीनाथ की राह में वास्तव में यही पहली चट्टी मिली, जिसके अनुरूप और भी चट्टियाँ मिलती जाती हैं। इन चट्टियों में आराम पूरा रहता है। लम्बे बरामदों-सी ये बनी रहती हैं, जिनके बीच में बनिये की दूकान रहती है। वही बनिया आपको चावल, दाल, आटा, आलू इत्यादि देता है। लकड़ी देता है, पानी के बर्त्तन देता है और रसोई के लिये अन्यान्य बर्त्तनों को भी आपके सुपुर्द कर देता है। दीवार के पास चूल्हे बने रहते हैं, जिनमें यात्रियों की मंडली अपनी रसोई बनाती है—फिर भोजनादि से निवृत्त हो बर्त्तन साफ कर उन्हें सौंप देती है, कुछ आराम करती है और फिर अपने गन्तव्य स्थान पर चल देती है। वहाँ किरासिन तेल भी मिलता है, जो आप अपनी लाल-

टेन में भर लेते हैं। बस, बात इतनी ही है कि सामान महँगे मिलते हैं और ज्यों-ज्यों आप आगे बढ़ते हैं—प्रसिद्ध स्थानों को छोड़कर, सामान की महँगी में वृद्धि ही होती जाती है। बनिये के बर्त्तनों में काली काफी लगी रहती है; किन्तु आपको उन्हें व्यवहार में तो लाना ही पड़ता है। हाँ, व्यवहार करने के पहले उन्हें खूब साफ कर लेना चाहिये।

[२]

घट्टगाड पहुँचकर मेरी इच्छा हुई वहीं दिन का पड़ाव डालने की। छः मील चल चुका था। धूप काफी हो आई थी। अतः दिन को वहीं टिक रहना मैंने उचित समझा।

'फेकू' मेरे साथ था। मेरे पंडे का नौकर शंकर भी पहुँच गया था। उसी के साथ मेरा हल्का-सा बिस्तर और अटैची-केस था। मैं वहीं एक दूकान पर बैठ गया और ठहरने का प्रबन्ध करने लगा। तबतक और लोग पहुँच गये। पंडे ने कहा—"यहाँ पानी का कुछ कष्ट है। इसके अलावा हैदराबाद का एक सेठ-राजा सदल-बल यहीं ठहरनेवाला है। जगह की भी किल्लत होगी। अच्छा होता यदि तीन मील और चलकर नाईमोहन-चट्टी पर ठहरते।" सबकी यही राय हुई। मैंने फिर अपनी लाठी उठाई और धूप में ही आगे की ओर चल पड़ा।

पेड़ों की छाया के कारण बहुत तकलीफ न हुई, तिसपर पथ में अपने एक परिचित मिल गये। उन्हें कई बार छपरे से 'मसरख' जानेवाली ट्रेन पर गार्ड की झंडी हिलाते हुए देखा था। लोगों ने उसी समय बतलाया था कि जब से 'मसरख'-लाइन

चालू हुई है तब से झाजी उस लाइन के गार्ड रहे। इस पर बहुत लोग मजाक भी करते थे। कहते थे कि इस लाइन की तो झाजी से मानों शादी हो गई है ! जब मसरखवाली ट्रेन आती थी तब लोग कहते थे—"आ रही हैं मसरखा कुँवरि जौजे झाजी !"

उन्हीं झाजी से परिचय कर चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। मालूम हुआ कि अब वे 'रिटायर' कर गये हैं और उनके स्थान पर उनके सुपुत्र शायद उस लाइन के गार्ड हुए हैं। ठीक ही है—"पुत्रो रक्षति वार्द्धक्ये" !

झाजी बड़े ही हँसमुख प्रकृति के मनुष्य उन्हीं युवक हृदय वृद्धों में हैं, जो चलने में नवयुवकों के भी कान काटते हैं। उनके साथ चलने में तेजी तो करनी पड़ी; किन्तु आनन्द भी काफी आया।

घट्टूगाड से लगभग डेढ़ मील पर नाईमोहन का पुल मिला। उसी से हेमवती गंगा को पार किया। बड़ा ही सुन्दर दृश्य था वहाँ का। पुल पार करने पर राह भी कुछ सीधी मिली। दोनों ओर सघन वृक्ष थे। कोई कष्ट न हुआ।

नाईमोहन के पास पहुँचकर कुछ अलग ही से देखा—हमारे स्टेशन-मास्टर झाजी और इन्स्पेक्टर तिवारीजी एक पेड़-तले खाट बिछाये बैठे हैं। हमारा पड़ाव कुछ ऊपर पड़ा था। माय इत्यादि पहले ही पहुँच गई थीं। हमारे पहुँचते ही मा ने पानी गर्म कराया। 'फेकू' ने उसमें नमक डालकर ठीक से पैर धो दिया, जिससे थकावट बहुत-कुछ जाती रही। यात्रा में ऐसा करना आवश्यक होता है। इससे हरारत बहुत-कुछ दूर हो जाती है।

'फेकू' ने चाय बनाई। उसे पीकर मैंने फुर्ती लाने की कोशिश की। दोनों जून यही क्रम रहा। किन्तु मेरी चाय की मात्रा बहुत थी, जिसके कारण मेरा अनुमान है कि मेरी बहुत खराबी भी हुई। यह मेरी नई आदत थी। हाँ, पुरानी आदत पान खाने की छूट गई थी, तीर्थ-यात्रा में पान न खाने का मैंने प्रण कर लिया था और मुझे इस बात का सन्तोष है कि मैंने इसे पूरे तौर से निबाहा भी। जगह-जगह पान मिलते थे सही, पर खाने की तबीयत नहीं होती थी। बनारस के पान खानेवालों को उन पत्तों में आनन्द भी क्या आता!

चट्टी पर मैंने आराम कर दाढ़ी बनाई। फिर शौच के लिये गया। पास ही अच्छा जंगल था। पड़ाव पर ही पानी मँगवा कर स्नान किया। थोड़ी ही दूर पर निर्मल उज्ज्वल हेमवती गंगा बह रही थी। किन्तु धूप के कारण वहाँ जाने की इच्छा न हुई; क्योंकि नहाने से जो आनन्द होता वह लौटते समय कड़ी धूप के कारण बिल्कुल काफूर हो जाता।

खाने-पीने के बाद दिनचर्या (डायरी) लिखी। फिर कुछ देर के लिये लेट रहा। बड़ा ही रम्य स्थान था—शान्त और सुन्दर। सामने कुछ समतल उपत्यका के बाद हेमवती की धारा बड़ी ही सुन्दर दिखलाई दे रही थी। उसे देखते-ही-देखते हल्की झपकी-सी आ गई; किन्तु इन आँखों में नींद कहाँ! एक व्यास पंडित 'श्रीबदरीनारायण-माहात्म्य' की एक पोथी लिये पहुँच गये।

मा तथा नानीजी कथा सुनने के लिये बेचैन हो उठीं। पंडितजी ने भी पोथी खोली। कथा बाँचने लगे। नींद मेरी

हवा हो गई। ऐसे कथावाचक आपको इस यात्रा में बहुत मिलेंगे। कितने ही सड़क-किनारे पोथी लिये बैठे रहते हैं !

इधर पंडितजी की कथा समाप्त हुई, उधर कूच का बिगुल बजा। सुप्त जन-समुद्र में एक खलबली-सी मच गई और धारा धीरे-धीरे आगे की ओर बढ़ चली। मैंने लेटे-ही-लेटे देखा, हमारे दल के तीन सदस्य—झाजी, तिवारीजी और वकील साहब—घोड़े पर सवार आगे 'बिजनी' की चढ़ाई पर आक्रमण करने जा रहे थे।

धूप उस समय भी काफी कड़ी थी। अतः अभी चलने की इच्छा न होती थी। फिर भी सबको जाते देख स्वयं भी तैयार होना पड़ा। पैदल जाना था, इसलिये माय इत्यादि को छोड़कर आगे चल पड़ा।

[२]

आगे 'बिजनी' की कठिन चढ़ाई थी। उस पर सामने की धूप और भी गजब ढा रही थी. लेकिन रास्ते के दोनों ओर सघन वृक्ष खड़े थे। हवा भी ठंढी-ठंढी बह रही थी। इस वजह से विशेष कष्ट न हुआ। हौले-हौले ऊपर चढ़ता गया।

सामने बिलकुल चढ़ाई-ही-चढ़ाई थी। धूप से जो तकलीफ हो रही थी उसे पेड़ों की छाया और ठंढी हवा दूर कर देती थी। फिर भी यदि मेरी चलती तो मैं हर्गिज धूप में ऊपर चढ़ने का प्रयास न करता; क्योंकि मेरा खयाल है कि चढ़ाई की राह यथा-सम्भव सुबह में तय करनी चाहिये। लेकिन जहाँ 'भागो-भागो' का सवाल है, वहाँ सुविधा का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी पर्वत-यात्रा में उचित तो यही है कि—

'गिरि के प्रखर रौद्र में ठंढी छाया तककर रहना।'

और उसके बाद—

'दिन ढल जाने पर धीरे से निज पथ पर प्रस्थान।'

पौने दो मील चलने पर 'छोटी बिजनी' मिली। ठीक छठे फर्लाङ्ग पर पानी का नल था। ठंढी छाया थी। बढ़िया शिला-खंड था। तिवारीजी वहीं बैठे हुए थे। घोड़ा उन्होंने छोड़ दिया था। मुझे भी उन्होंने वहाँ थोड़ी देर बैठने कहा। अपनी भी इच्छा हो गई—

'गिरि की कठिन चढ़ाई—वैसी ही गहरी उतराई।
शिलाखंड पर बैठ पवन का मधुर व्यजन सुखदाई॥
नहीं क्लान्ति का रह जाता है मन में कुछ भी ध्यान।'

किन्तु उसके बाद! आराम कर लेने पर फिर तो चलना दूभर हो जाता है। इसीसे साधारणतया बीच राह में मेरी रुकने की इच्छा नहीं होती; किन्तु आज पहला दिन था। ग्यारह मील चल चुका था। कड़ाचूर चढ़ाई थी। उस पर जब एक सुन्दर स्थान का प्रलोभन मिल गया तब कैसे न रुकता!

आगे और भी कठिन चढ़ाई मिली—एक मील की—'बड़ी बिजनी' तक। दूर-दूर तक ऊपर चढ़ती हुई राह दिखलाई देती थी, जिस पर चींटियों के समान चलती हुई जनश्रेणी को देखकर कलेजा एक बार बैठ जाता था।

इस बार तिवारीजी हमारे साथ थे। धीरे-धीरे हम दोनों ऊपर चढ़ते गये। कई फर्लाङ्ग तय करने पर दूरस्थ जनपद की हलचल मालूम हुई। जान पड़ता था, मानों कोई मेला उतरा हो।

हमलोग उसके कुछ इधर ही थोड़ी देर के लिये रुक गये ; सड़क के पास ही एक सुन्दर शिलाखंड देखकर बैठ गये। वहीं कुछ सुन्दर सुकुमार सुमन दिखलाई पड़े। मीठी सुगन्ध थी--हल्की, चमेली-सी। 'कुसुमावलि सूने में करती जहाँ सतत मधुदान।' मैंने तिवारीजी को अपनी कविता सुनाई।

थोड़ी देर बाद हमलोग पड़ाव पर पहुँचे। चारों ओर धुआँ-ही-धुआँ था। लोग भी चारों ओर भरे पड़े थे। बिल्कुल सोन-पुर के मेले का संक्षिप्त संस्करण मालूम हो रहा था।

जगह भी आराम की नहीं मिली। जिस इल्लत से डरकर घटूगाड से भगे थे, वही इल्लत सर पर आन पड़ी। हैदराबाद का सेठ-राजा वहीं ठहरा था, अतः सुविधा-जनक स्थान सभी भर गये थे।

मा अपने पड़ाव पर बैठी प्रतीक्षा कर रही थीं। गर्म पानी तैयार था। पहुँचते ही मैंने पैर धुलाये। चाय पी। फिर कुछ देर लेट गया, क्योंकि चढ़ाई के कारण कुछ थक जरूर गया था। थोड़ी देर बाद उठा और बाहर शौच के लिये गया। अँधेरा हो चुका था।

यहाँ इस सफर में बस इसी की तकलीफ है, जिसके कारण कहीं-कहीं नाजायज काम भी कर बैठना पड़ता है! सुबह खूब तड़के उठनेवाले अथवा रात को देर से जानेवाले प्रायः चट्टी से थोड़ी ही दूर इधर-उधर बैठ जाते हैं; किन्तु यदि पकड़े गये तो मेहतर की डाँट सुननी पड़ती है। लेकिन "सबसे बड़ा रुपैया भैया, सबसे बड़ा रुपैया।" अधिक नहीं, सिर्फ एक-दो पैसे

खर्च कर दीजिये, सेठजी, फिर क्या है ! वह तो आपको सड़क पर ही बैठने की इजाजत दे देगा ! परन्तु बड़ी ही बेहयाई है इस सफर में। इस विषय में जेल के बाहर शायद ही और कहीं इतनी तकलीफ होती है।

कुछ आराम करने के बाद खाना-पीना हुआ। ऊपर थोड़ी देर वकील साहब के पास बैठा। मेरे पूज्य पिताजी जब छपरे में सब-जज थे, तब वकील साहब का उनसे बहुत हेलमेल था। उसी नाते मैं बराबर उन्हें काकाजी कहा करता था। उनके कारण इस यात्रा में मुझे आनन्द भी काफी मिला। थोड़ी देर बाद जब उन्हें झपकी आने लगी, मैं नीचे अपने स्थान पर आकर लेट गया।

पहले दिन की पर्वत-यात्रा समाप्त हुई। रह-रहकर दिन-भर की बातें याद आती रहीं। कितनी भयंकर दुर्घटना से जान बची थी आज सवेरे ही ! लक्ष्मण-झूले में भयंकर बिच्छू मेरे बिछावन के पास ही निकला था; किन्तु कुशल हुई कि 'कब्लए ईजा' (तकलीफ पहुँचाने के पहले ही) वह मूजी मार डाला गया। यदि काट लेता तो ? अच्छी यात्रा होती ! किन्तु भगवान् बचानेवाला है। लक्ष्मण-झूले में बिच्छुओं की इतनी अधिकता है, फिर भी ईश्वर की कृपा से किसी को कुछ कष्ट न हुआ।

आज ही, अभी थोड़ी देर हुई, 'बड़ी बिजनी' में एक गोजर मेरे शरीर से चिपक गया था। किन्तु जल्दी ही उसका पता चल गया और वह नोचकर फेंक दिया गया।

इन घटनाओं से अपने हृदय में कुछ और भी बल हुआ।

सोचा, मालिक मेहरबान है. सारी यात्रा में मुझे कुछ भी कष्ट न होगा। हुआ भी ऐसा हो।

"राखनहारा साँइयाँ, मारि न सकिहैं कोय।
बाल न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय॥"

मैं ईश्वर को धन्यवाद देकर सो गया।

卐

व्यासगंगा

और

भागीरथी के संगम पर

"प्रथम चुम्बने नासिकाभङ्गः" के समान पहले ही दिन की यात्रा में बिजनी की चढ़ाई ने बिल्कुल चूर-चूर कर दिया, तिसपर सुना कि दूसरे दिन बन्दर-भेल की विकट उतराई है। तब इस बार कल वाली गलती नहीं करना चाहता था। यही इच्छा थी कि जितना तड़के हो सके उठकर यात्रा प्रारम्भ कर दी जाय।

सबसे पहला प्रश्न था शौच जाने का; क्योंकि जैसा पहले भी कह चुका हूँ इस यात्रा-लाइन में सबसे विकट समस्या वही है। यहाँ 'बड़ी बिजनी' में उठकर मैंने देखा कि टट्टी के लिये नीचे जाना पड़ता है, तिस पर न जाने कितने ही तपस्वी पास-ही-पास बैठकर वहाँ तपस्या कर रहे थे! मुझे कुछ अजीब-सा मालूम हुआ।

इधर सड़क पर खड़ा होकर दूसरी ओर देखा। पास ही पहाड़ खड़ा था, झाड़ियाँ थीं, वृक्ष थे। मैं पैर अड़ा-अड़ा कर पेड़ों की शाख पकड़ता कुछ ऊपर चढ़ गया। भूल गया बिच्छू और साँप का डर; क्योंकि अभी तक सबके सामने बैठने

की बेहयाई न हो सकती थी। आखिर पहला ही दिन तो था—इसीसे उतनी हिम्मत कर दी।

शौच के बाद तो फिर कोई चिन्ता न थी। तैयार होने में भी अधिक विलम्ब न हुआ। सवा चार बजे बिल्कुल तैयार होकर चल पड़ा। उस दिन मई की सोलहवीं तारीख थी। दिन था मंगल।

दो ही फर्लाङ्ग आगे चलने पर हरद्वार से उन्तीसवें मील का पत्थर मिला। इन पत्थरों से यात्रा में बहुत मदद मिलती है। मालूम हो जाता है कि हमने कितनी मंजिल तय की और कितनी बाकी है। इस प्रकार हमारी यात्रा में ये पत्थर हमारे परम मित्र का काम करते हैं, और यह संतोष का विषय है कि इस यात्रा-लाइन में ये बराबर मिलते ही रहते हैं—अपने अंगोपांग फर्लाङ्गों के साथ।

चलने के बाद तीन फर्लाङ्ग तक चढ़ाई-ही-चढ़ाई मिली; किन्तु यात्रा के प्रथम जोश में वह कुछ भी मालूम न हुई। उसके अलावा समय भी वैसी ही फुर्ती का था—विमल उषाकाल, मुर्दों में भी जीवन का सञ्चार करनेवाला।

आसपास के दृश्य बड़े ही सुन्दर थे; किन्तु साथ-ही-साथ पर्वत-पथ की भयंकरता का खयाल भी रह-रहकर आ ही जाता था। रास्ता सिर्फ एक फर्लाङ्ग तक बराबर मिला—फिर उसके बाद छठे फर्लाङ्ग तक चढ़ाई ही थी। तीसवें मील के चौथे फर्लाङ्ग से लेकर छठे तक उतार-ही-उतार मिला। सीधे उतरते ही चले आ रहे थे। कुछ भय नहीं मालूम होता था, यद्यपि सड़क के पास ही एक ओर भयंकर खड्ड था, जिसमें फिसलकर कोई गिरे

तो हड्डी-पसली का भी पता न चले। दूसरी ओर पहाड़ खड़ा था, जिस पर से यदि एक भी पत्थर खिसके तो सर को चकनाचूर कर दे। कितना विकट होता है पर्वत-पथ! मुझे अपनी एक पुरानी कविता याद आ गई, जिसे मैंने सन् १९२० में अल्मोड़ा में लिखी थी—

पर्वत-पथ है सँभल-सँभल चलना यहाँ,
सावधान! ठोकर मत लग जाये कहीं।
ध्यान रहे अपने पथ पर ही सर्वदा,
और कहीं ये चञ्चल दृग जायें नहीं॥
दूर-दूर विस्तृत सुन्दर वनराजि है,
नीचे मतवाली सरिता है बह रही।
आसपास के दृश्य परम रमणीक हैं,
आँखें जातीं जहाँ अटक रहतीं वहीं॥
किन्तु कठिन है पंथ, बड़े रोड़े पड़े,
पास खड़ी पर्वत-माला धमका रही।
और दूसरी ओर भयंकर खड्ड है,
यदि फिसले तो सीधे जाओगे वहीं॥
पर जो चाहे अगर, ठहरकर देख लो।
फिर निज पथ पर पथिक, सजग चलते चलो॥

सचमुच नीचे का दृश्य बहुत ही सुन्दर था। जहाँ उतार खतम होता है वहीं सड़क के पास बाबा काली कमलीवाले की धर्मशाला है। उस स्थान को न्यौड़खाल कहते हैं। वहाँ मुझे

कोई दूकान न दिखलाई दी। हाँ, सड़क के किनारे कढ़ाई चढ़ाये दूधवाले गर्म दूध बेच रहे थे।

न्यौड़खाल पहुँचते ही एक परम रमणीक दृश्य दिखलाई पड़ा। जैसे अंधे की आँखें खुल जाने पर 'भक से' उसे ज्योति दिखलाई देती है वैसे ही पर्वत की प्राचीर के बाहर 'खाल' पर आते ही एक नैसर्गिक दृश्य दृष्टिगोचर हुआ। 'खाल' यहाँ शायद उसी स्थान को कहते हैं जहाँ दो पहाड़ियों का मेल-सा होता है—उतराई खतम होती है, चढ़ाई शुरू होती है।

यहाँ न्यौड़खाल पर पूरे एक दिन बाद फिर भागीरथी के भव्य दर्शन हुए। एक ओर पहाड़ों के बीच बहती हुई सुन्दरी जाह्नवी का पतला शरीर—दूसरी ओर हरे-भरे खेत और हेमा। जी चाहता था कि उस दृश्य को देखता ही रहूँ; किन्तु मञ्जिल तय करने की धुन अलग ही थी। अतः लाचार हो आगे बढ़ना पड़ा।

सुन्दर सूर्योदय हो रहा था। सामने चढ़ाई थी; किन्तु शीतल मन्द समीर के कारण कोई कष्ट न मालूम हुआ। मजे में आगे बढ़ता गया। देखा, सेठ-राजा की सुन्दरी पुत्रवधू तथा स्त्री भी अपनी डांडियों से उतरकर बड़ी-बड़ी लाठियाँ हाथ में लिये यात्रा का आनन्द उठाती हुई पैदल चल रही हैं।

थोड़ी चढ़ाई और उतराई के बाद, बत्तीसवें मील से लगभग डेढ़ फर्लाङ्ग आगे, कुंडचट्टी मिली। यहाँ का पानी बहुत अच्छा है। ठहरने का भी अच्छा प्रबन्ध है। हम सुबह से चार मील चल भी चुके थे; किन्तु यहाँ ठहरने का प्रोग्राम नहीं था, अतः

आगे बढ़ते चले। यहीं हमारे बूढ़े काकाजी भी लाठी टेकते हुए हमारे साथ हो गये।

तैंतीसवें मील के बाद बुढ़ियाखाल का प्याऊ मिला। धूप काफी उग चुकी थी। उसके बाद छठे फर्लाङ्ग से बहुत ही कठिन उतार मिला। यही बन्दर-भेल की भयंकर उतराई थी। वहाँ खड़ा होकर मैंने एक बार नीचे की ओर देखा। एक सुन्दर पहाड़ी गाँव बिल्कुल बच्चों के घरौंदा-सा दिखाई पड़ा। विना मेख को दँवनी हो रही थी। दृश्य सुन्दर था।

अब सामने उतराई का सामना था। ऐसी भयंकर उतराई मैंने कभी नहीं देखी थी और न स्वप्न में भी इसका खयाल किया था; क्योंकि प्रायः उतराई पर खूब ही आनन्द आता है। न कुछ मेहनत, न तरद्दुद। शरीर ढील दिया और आप-ही-आप लुढ़कते हुए आगे बढ़ते गये। चढ़ाई के परिश्रम के बाद उतराई देवता के वरदान के समान मालूम होती है; किन्तु इस उतराई ने तो होश ठिकाने कर दिये। इतनी फिसलन थी कि पैर टिकते ही न थे। पैर गड़ा-गड़ाकर चलना पड़ता था, बड़ी मेहनत मालूम होती थी, तिस पर रास्ता भी वैसा ही था। बड़े-बड़े रोड़े पड़े हुए थे, जिनके कारण कठिनाई और भी बढ़ गई थी।

चौंतीसवें मील के बाद तीसरे फर्लाङ्ग के नीचे बन्दरचट्टी दिखलाई दी। ऐसा मालूम होता था, मानों बहुत दूर हो। उसके पास ही भागीरथी की धारा बह रही थी। छठे फर्लाङ्ग पर एक सुन्दर झरना मिला। वहीं वट-वृक्ष की सुन्दर सघन छाया भी थी—'सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मन्द समीर।'

मैं कुछ देर वहीं बैठ गया। देखा, ऊपर से पार्वतीय बालाएँ सर पर घड़ा रखे झरने से पानी भरने पगडंडी द्वारा आ रही थीं। उनके लिये वह चढ़ाई-उतराई कुछ भी नहीं थी। सच है, जिसकी जैसी आदत।

जी तो यही चाहता था कि यहीं दुपहरिया बिता दूँ; किन्तु आगे चट्टी पर पहुँचना था, अतः लाचार हो फिर आगे चला और साढ़े आठ बजे चट्टी पर पहुँचा। ठहरने की जगह एक अच्छी सुन्दर-सी ली, जहाँ सामने ही भागीरथी का सुन्दर दृश्य दिखलाई दे रहा था; किन्तु मक्खियों के मारे आफत थी।

थोड़ी ही देर बाद अपने दल के और लोग भी आ गये। मैं तो आज की चलाई से चूर हो गया था; किन्तु मा ने आते ही पानी गर्म कराया; फेकू ने पैर धोये, चाय पिलाई, बदन में तेल मालिश कर दी। इसके बाद भागीरथी-स्नान किया, फिर क्या था—शरीर, मन, सभी ताजे हो गये। कहाँ की थकावट और कहाँ की परेशानी!

खाते-पीते बारह बज गये। फिर एक घंटे तक एक हल्की-सी झपकी ले ली। उसके बाद शौच को गया। मा ने नारंगी खाने को दी। फिर मैं चुपचाप अपनी दिनचर्या लिखने लगा और बीच-बीच में सामने के दृश्य का भी आनन्द उठाता रहा।

सामने ही भागीरथी बह रही थी। उसमें तैरती हुई लकड़ियों का तमाशा देखने में एक अजीब आनन्द आ रहा था। दूर-दूर से चीड़ के बड़े-बड़े तख्ते बहते हुए चले आ रहे थे; किन्तु बीच धारा से जहाँ थोड़ा भी इधर-उधर हो जाते थे, मजा आ जाता था। कुछ तो बिल्कुल किनारे अटक जाते थे और

कुछ भँवर में पड़ जाने पर बड़ी मुश्किल से बाहर निकल पाते थे।

मैं बड़ी देर तक भँवर में पड़े हुए उन तख्तों के आवागमन का तमाशा देखता रहा। एक ओर किनारे की तरफ, जहाँ जल कुछ घूम-सा गया था, तेजी के साथ बहते हुए वे आगे जाते थे, फिर भँवर में पड़कर लौट आते थे और चक्कर काटते रहते थे। भवसागर के भँवर की उपमा की सार्थकता मुझे उसी समय मालूम हुई।

मैं वहीं लेटा-लेटा गंगा के सुन्दर दृश्य देखता रहा। देखा, पानी के ऊपर यहाँ भी जल के हिंसक पक्षी मँड़रा-मँड़राकर अपना शिकार कर रहे हैं। इस शान्त पर्वत-प्रान्त में भी प्रकृति की वही लीला चल रही है।

थोड़ी ही देर बाद एक कोलाहल-सा सुन पड़ा। देखा कि मर्द, औरतें, बच्चे, सभी शोर करते हुए एक ओर दौड़े जा रहे हैं। आखिर बात क्या है, जानने की उत्सुकता हुई। उसी समय एक चमकती हुई चीज धारा में बहती दिखलाई दी। मालूम हुआ, मरी हुई मछली है और उसी को पकड़ने के लिये ये इतने उतावले हो रहे हैं! आखिर एक जगह शान्त धारा के पास एक आदमी हिम्मत कर जल में कूद पड़ा और उसे पकड़ कर बाहर ले आया, मानों जग जीत लिया। उनके आनन्द का ठिकाना न था। घाँघरा पहने हुई पार्वतीय बालिकाएँ थिरक-थिरक कर नाच रही थीं—दौड़ रही थीं। उस समय उन जल-पक्षियों के समान ये भी दिखलाई दीं। इनका नाचना और भागना बहुत भला मालूम हो रहा था।

[२]

आसमान बादलों से घिरा हुआ था। हवा में काफी ठंढक थी, इसीसे हमलोग समय की बिना कुछ परवा किये ही तीन बजे पड़ाव से चल पड़े। भागीरथी अब हमारी दूसरी ओर पड़ी—दायें या बायें, मुझे याद नहीं। घाटी के बाद ही हरद्वार से पैंतीसवाँ मील मिला। राह में कभी चढ़ाई, कभी समतल, कभी उतार मिला; किन्तु सातवें फर्लाङ्ग से लेकर ३६–४ तक पाँच फर्लाङ्ग की बड़ी ही विकट चढ़ाई मिली। मैं बिल्कुल पिछड़ गया था। और लोग आगे ढाँगूगढ़ के पास पहुँचकर विश्राम कर रहे थे। वहाँ एक सुन्दर प्याऊ भी थी, जिससे लोग अपनी प्यास बुझा रहे थे।

मैं बाद को पहुँचा। देखा, हमारे तिवारीजी का 'पर्सनल असिस्टेंट' (Personal Assistant) 'गूँगा' अपना अभिनय दिखला रहा था। जाम्बवान-सा वह बूढ़ा जब अपना मूक अभिनय कर रहा था, देखनेवालों को खूब आनन्द आता था। मैं तो उसकी निरीक्षण-शक्ति तथा अभिनय-शक्ति देखकर दंग रह गया। सचमुच भगवान् जिसे किसी एक शक्ति से विहीन कर देते हैं, दूसरी ओर से उसकी कमी भी पूरी कर देते हैं। इसीसे इन अन्धों और गूँगों में यह चमत्कार देखने में आता है।

हमलोगों का यह गूँगा उस समय टिकट काटने का अभिनय भावों द्वारा कर रहा था। खूब हँसी आती थी। साथ ही मेरे मन में आश्चर्य भी काफी हो रहा था। इस गूँगे के कारण हमलोगों का बड़ा ही मनोरंजन हुआ। यात्रा में यदि ऐसे

साथी मिल जाते हैं तो राह आनन्द से कट जाती है; और उसका अभिनय ! भाषा में शक्ति कहाँ जो गूँगे के भावों की अभिव्यक्ति कर सके ?

एक मील तक उतार-ही-उतार मिला। फिर कुछ दूर राह अच्छी मिली। गंगा पास ही बह रही थी। एक जगह पंडे के गुमाश्ता अवतारसिंह ने नदी में गाय की लाश दिखलाई। यहाँ प्रायः इसी प्रकार लाशों को नदी में प्रवाहित कर देते हैं। सिर्फ पशुओं की ही नहीं, बल्कि मनुष्यों की भी यही अवस्था होती है—लकड़ियों की कमी के कारण। इस जंगल में भी लकड़ी का दुःख ! कोई क्या कहेगा ? किन्तु बात ऐसी ही है, यद्यपि कारण मेरी समझ में न आया।

सन्ध्या हो रही थी। पहाड़ की छाया में हमलोग धीरे-धीरे आगे की ओर बढ़ते जा रहे थे। एकाएक पास के पहाड़ से उतरकर कुछ बालिकाओं ने हमें घेर लिया और पैसे माँगने लगीं। उनमें एक गूँगी भी थी। कैसे इन्हें टालूँ ? बड़ी आफत आई। अपने पास कुछ था भी नहीं ! करता क्या ? मेरे बुजुर्ग वकील साहब साथ ही थे। मैंने उन्हीं की ओर इशारा कर दिया कि मालिक वे ही हैं। मेरा पिंड छूटा। सबने उन्हें घेर लिया। मैं आगे बढ़ गया।

इस ओर भिखमंगे बहुत हैं। इसीसे आवश्यक होता है कि पास में कुछ अँगरेजी पाई भुनाकर रख लें। इसके साथ-ही-साथ इधर के यात्री सुई-तागा भी साथ रख लेते हैं। बस इधर की भिक्षा यही है—"ओ सेठजी, पाई-पैसे दे दो; ओ राणाजी,

सुई-तागा दे दो"—क्योंकि इधर के सभी यात्री इधरवालों के लिये सेठ ही होते हैं।

३८–२ पर महादेव-चट्टी मिली। ऊपर शिवाला था—छोटा-सा; किन्तु मैं देखने नहीं गया। सुन्दर सुहावनी घाटी थी—समतल पथ। आगे आमों का सुहावना कुञ्ज था। उसी के नीचे कुछ देर विश्राम किया। वहीं आम के पेड़ के नीचे कुछ सुशिक्षित संन्यासी मिले। वे जमुनोत्री-गंगोत्री होते हुए केदारनाथ-बदरीनाथ जानेवाले थे। नवयुवक संन्यासी विमलानन्द से कुछ बातें कीं। पानी पिया, फिर धीरे-धीरे आगे चल पड़ा।

गंगा के किनारे-किनारे पर्वत की छाया में सन्ध्या समय चलने में बहुत आनन्द आ रहा था। बिल्कुल वसन्त की संध्या-सी प्रतीत होती थी; किन्तु रंग में भंग करने के लिये उन्तालीसवें मील से चढ़ाई शुरू हो गई! राह के किनारे पहाड़ की ओर देखा, बहुत छोटे-छोटे गोले-गोले पत्थर पड़े थे, जिससे मालूम होता था कि शायद पहले पानी की धारा इसी ओर रही हो। तीन फर्लाङ्ग के बाद पाटीचट्टी पहुँचे। चट्टी सुन्दर थी। रहने का प्रबन्ध भी अच्छा था। ऊपर दुतल्ले पर ठहरने की जगह मिली। काफी आराम रहा। नौ बजे भोजन कर लिया। वहाँ से थोड़ा हटकर भागीरथी बह रही थी।

[३]

सत्रह के सबेरे से ही चढ़ाई मिली, लगभग तीन मील की। बीच-बीच में राह सीधी मिल जाती थी; किन्तु अधिकतर चढ़ाई-ही-चढ़ाई थी। शुरू में ही एक जगह नीचे गंगा में एक लाश देखी। औंधे मुँह कोई पड़ा हुआ था। जान पड़ता था कि इधर

की यात्रा में ही किसी कारण बेचारे ने अपनी जान गँवाई है। यही दशा होती है परदेश में मरनेवालों की।

यही सोचता-सोचता ऊपर चढ़ता चला जा रहा था। सामने के दृश्य ने वे सारी बातें भुला दीं, और एक अजीब आनंद आने लगा उस राह में। पास ही पहाड़ पर पपीहा बोल रहा था। पंडुक अलग ही अपनी तान अलाप रहा था। हवा बड़ी ठंढी थी, इसीसे पथश्रम कुछ मालूम न हुआ।

बयालीसवें मील पर सेमल-चट्टी मिली। झाजी और तिवारीजी ऊपर एक दूकान के सामने पेड़ की छाया में बैठे चाय पी रहे थे। मैं भी पहुँचा। गूँगे का अभिनय हो रहा था। इस बार वह सिपाहियों के परेड की नकल कर रहा था और तिवारीजी उसकी कला समझाते जा रहे थे।

एक मील और आगे तक चढ़ाई ही मिलती गई। पहले तीन फर्लाङ्ग तो पहाड़ की छाया के कारण मजे में कट गये; किन्तु आगे बढ़ने पर सामने की धूप और भी गजब ढाने लगी। बड़ी परेशानी होती है इस पहाड़ी धूप के कारण। बस हवा का ही सहारा था, जिसकी ठंढक के कारण बहुत कष्ट न हुआ।

इसके बाद हल्का-सा उतार मिला। सात फर्लाङ्ग पर खंड-चट्टी मिली, जो बहुत ही छोटी-सी थी। सिर्फ एक छप्पर था वहाँ पर। चवालीसवें मील से फिर चढ़ाई थी। छठे फर्लाङ्ग पर कांडीचट्टी मिली, जहाँ दिन को ठहरना था। सुन्दर स्वच्छ स्थान। सुहावने पेड़ों की छाया। पास ही गिरते हुए झरने का दृश्य अनोखा था। ठहरने का प्रबन्ध भी उत्तम था। उसे देखते ही भान हुआ कि दिव्य स्थान है; किन्तु पानी पीने पर

अजीब तबीयत हो गई ; स्वाद बहुत रही था । मालूम हुआ, यहाँ दाल भी नहीं सिद्ध होती ! अजीब सूरत-हराम जगह निकली ; फिर भी झरने के नीचे स्नान करने पर बहुत ही आनन्द आया । दुपहरी आराम से कट गई ।

लगभग चार बजे तैयार होकर काकाजी के साथ चला । सामने सूरज की किरणें पड़ रही थीं । केदारनाथ के पंडे ने कहा—"बाबूजी, यह तुम्हारा देश नहीं है । यहाँ की धूप बहुत कड़ी होती है । टोपी पहन लो, नहीं तो तबीयत खराब हो जायगी ।" मैंने उसकी बात शिरोधार्य कर ली, टोपी पहन ली ।

इस बार धूप से बहुत तकलीफ हुई ; क्योंकि बहुत दूर तक छाया मिली ही नहीं । इसीसे जब कभी ठंढी जगह पाता था, ठहर जाता था । छियालीसवें मील पर गणेश-प्याऊ मिला । सैंतालीसवें से सीधे धूप-ही-धूप मिली । पूरा चक्करदार रास्ता था । भैरव-खाल के प्याऊ के पास धूप समाप्त हो गई । एक छोटी-सी घाटी थी । उसे पार करते ही पर्वत की छाया में आ गया और नीचे का रमणीक दृश्य दिखलाई पड़ा ।

सामने ही व्यासगंगा का पुल था । नदी की पतली-सी धारा भी साफ दिखाई दे रही थी । उसके उस पार सामने ही पूरब से नजीबाबाद की सड़क आ रही थी । कुछ दूर आगे भागीरथी और व्यासगंगा का पुनीत संगम भी दृष्टिगोचर हुआ । दोनों नदियाँ गले-गले मिल-मिलकर एक दूसरे से न जाने किस अतीत की कहानी कह रही थीं । भगवान् वेदव्यास की याद आ गई—

"नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे,
फुल्लारविन्दायत—पत्र—नेत्र ।
येन त्वया भारततैलपूर्णः,
प्रज्वालितो ज्ञानमयी प्रदीपः ॥"

वहाँ से उतार-ही-उतार था । मेरे जेब में नारंगी के कुछ छिलके थे । उन्हीं को चूसता हुआ धड़ाधड़ नीचे उतर आया । अच्छी सुन्दर-सी राह थी । उतरने में खूब मजा आया । छः फर्लाङ्ग का उतार बात-की-बात में तय हो गया ।

४८–४ पर व्यासगंगा के ऊपर झूले का पुल मिला । कुछ देर वहीं वकील साहब के लिये ठहर गया । वहाँ से रास्ता बिल्कुल सीधा था । तीन फर्लाङ्ग चलने पर व्यासचट्टी दिखलाई दी । अच्छे स्थान पर बसी है । जान पड़ता था मानों पहाड़ की गोद में स्थित हो । गंगातट पर काफी समतल भूमि देखने में आई । उनचासवें मील पर चट्टी मिली । खासी सुन्दर-सी बस्ती है । मिठाई भी मिलती है । एक डाकखाना भी है । सामने एक लेटर-बक्स लटका हुआ था, जिसे देखने से मालूम हुआ कि हर सनीचर को इससे डाक निकाली जाती है—हफ्ते में एक बार । कितना अच्छा प्रबन्ध है !

चट्टी पर लोग पहले से ही अच्छी जगह लेकर बैठे हुए थे । यहाँ का सुन्दर दृश्य देखकर इच्छा हुई थी कि पहुँचते ही गंगातट पर जा बैठूँ ; किन्तु गूँगे का अभिनय देखने में बहुत अनमोल समय नष्ट हो गया ।

कुछ उजेला रहते ही उधर शौच को गया । फिर गंगातट के

शिलाखंड पर बैठकर भगवती भागीरथी का दिव्य दृश्य देखता रहा। उस पार कुछ जंगली पेड़ मस्ती से झूम-झूमकर निर्मल जल के दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देख रहे थे। बहुत ही सुहावना था वह दृश्य। चारों ओर छोटे-छोटे पहाड़ और बीच में वेगवती गंगा। मेरे हृदय में भी भावों की भागीरथी उमड़ पड़ी और मैं धारा के साथ स्वर मिलाकर अनाप-शनाप बकने लगा—

बड़े जोर से शोर करती हुई।
हृदय में अजब भाव भरती हुई॥
लड़कपन लिये कुछ उछलती हुई।
लचकती हुई, कुछ मचलती हुई॥
शिलाओं को नीचे कुचलती हुई।
चट्टानों को चुटकी से मलती हुई॥
हज़ारों की हस्ती मिटाती हुई।
हज़ारों को अमृत पिलाती हुई॥
सदा दृश्य सुन्दर दिखाती हुई।
पुरानी कहानी सुनाती हुई॥
उसी शान से जाह्नवी जा रही।
परब्रह्म के गीत है गा रही॥

उसी समय जी में आया—

सुना है, इसी तीर पर व्यास ने।
कभी ईशहित थे कठिन तप किये॥
विमल व्यास-गंगा बही है यहाँ।
बड़े वेग से बह रही है यहाँ॥

फिर जी में हुआ—

न जाने इधर होके किस काल से।
नदी बह रही है उसी चाल से॥
न जाने यहाँ कितने आये-गये!
पुराने हुए जो कभी थे नये॥
मिटे नाम कितने व कितने बने।
गिरे वृक्ष जो थे किसी दिन घने॥
मगर जाह्नवी है चली जा रही।
वही गीत मस्ती से है गा रही॥

भावों की भागीरथी रोके नहीं रुकती थी; किन्तु कल की यात्रा की याद आ गई। सवेरे ही उठकर संगम-स्नान करना है और फिर आगे बढ़ना है देवप्रयाग की ओर—भागीरथी और अलकनन्दा के संगम पर।

卐

भागीरथी

और

अलकनन्दा के संगम पर

[१]

मई की अठारहवीं तारीख थी—दिन था गुरुवार। नींद कुछ देर से खुली। अतः सुबह व्यास-गंगा में स्नान करने का विचार छोड़ देना पड़ा। डाँडीवाले तो रुक गये, किन्तु मैं पैदल यात्री—अधिक विलम्ब सहन नहीं कर सकता था; क्योंकि धूप उग जाने पर जो दुर्दशा होती, उसका खयाल करके ही दिल काँप उठता था। इसीसे झटपट शौचादि से निवृत्त हो यात्रा-पथ पर चल पड़ा!

भागीरथी के किनारे-ही-किनारे पगडंडी है। प्रभात की पुनीत वेला में उस पर चलने में खूब आनन्द आया। उनचासवें मील के चौथे फर्लाङ्ग पर एक मन्दिर मिला—भगवान् वेदव्यास, शुकदेव और पराशर का—ठीक सड़क के किनारे। रास्ता सुन्दर समतल था। भागीरथी पास ही बह रही थी। सुन्दर सैकत शय्या का दृश्य मनोहर था। मैं उनका आनन्द उठाता हुआ आगे बढ़ता गया।

आध मील और चलने पर एक संस्कृत-पाठशाला मिली। मैं अकेला तेजी से बढ़ता चला जा रहा था। तबतक देखा कि पीछे से केदारनाथ के पंडे का आदमी गौड़सिंह चला आ रहा है। मेरा साथ देने के लिये पंडे ने उसे भेज दिया था!

५१-३ पर असली झूले का पुल देखने में आया—रस्सी-वाला, जिस पर चढ़कर यहाँ के निवासी इस पार से उस पार आते-जाते रहते हैं। हमलोगों को तो देखकर ही डर मालूम होता है; किन्तु पर्वतवासी बराबर के अभ्यास के कारण इसे साधारण चीज समझते हैं। यह उनकी प्रति दिन की राह ठहरी; पर अपने लोग तो शायद चक्कर खाकर गिर पड़ें। इस लोहे के झूले पर ही चलने में कुछ लोग ऐसे हैं जिनके देवता कूच कर जाते हैं। एक तो हमारे साथ ही हमारे एक बुजुर्ग थे, जिनके होश झूले का पुल देखकर ही गुम हो जाते थे और बिना सहारे के उसे पार करना भी उनके लिये मुहाल हो जाता था।

बावनवें मील पर छालरी-चट्टी मिली। पहाड़ की छाया में ठंढे-ठंढे वहाँ तक चला आया। आगे ५४-२ पर उमरासू मिला। अच्छी सुन्दर-सी चट्टी थी। तिवारीजी हमारे साथ थे। वहीं हमें इलाहाबाद के भी कुछ विद्यार्थी मिले, जिनमें एक सुन्दर पहाड़ी बालक था—विल्वकेदार का रहनेवाला!

हमलोग कुछ देर उसी चट्टी पर बैठ गये। जेब से मेवे खाये, पानी पिया। फिर इच्छा हुई कि वहीं ठहर जायँ। छः मील चल चुके थे। धूप कड़ी हो गई थी। अतः आगे बढ़ने की इच्छा न होती थी। तबतक झाजी पहुँच गये। उन्हें यह बात पसन्द न आई। इतनी जल्दी किसी पड़ाव पर टिक जायँ,

यह कैसे हो सकता था। उन्होंने आगे हो चलने पर जोर दिया और स्वयं अपने गण बलदेव के साथ बढ़ चले। लाचार हो हमें भी आगे बढ़ना ही पड़ा—करता क्या! धूप काफी उग चुकी थी; फिर भी टाँग घसीटते हुए आगे चलना अनिवार्य हो उठा।

५६-४ पर सौड़-चट्टी मिली। वहीं पंडाजी का बाग है—सुन्दर, सघन, गंगातट पर। आम के पेड़ों के कारण धूप से भी पूरा बचाव था। मैं एक झोपड़ी के नीचे डंडा फेंककर पड़ गया, निश्चय कर लिया—अब तो आगे न जाऊँगा, दुपहरी इसी अमराई में बीतेगी।

थोड़ी ही देर में हमारा गण शंकरसिंह भी आ गया। उसीको नीचे भेजकर गंगाजल मँगाया और छककर पिया। अब मैंने गर्म पानी का प्रयोग छोड़ दिया था। उसमें बहुत झंझट थी और प्यास भी न बुझती थी; साथ ही रास्ते के निर्मल शीतल जल को देखकर अपने लोभ को संवरण करना मेरी शक्ति के परे हो रहा था। किन्तु मुझसे गलती यही हुई कि बाबा काली कमलीवाले की औषधि का विशेष प्रयोग नहीं किया, जिसका फल मुझे यात्रा के बाद मिला।

सौड़-चट्टी के पास ही नरसिंह-शिला है, जिस पर नृसिंह-जयन्ती के दिन काफी भीड़ होती है; किन्तु उस धूप में इधर-उधर जाने की हिम्मत न हुई। हाँ, बड़ी मेहनत से शौच के लिये उतरकर नीचे की ओर गया। फिर गंगातट पर भी पहुँचा, किन्तु रास्ता बहुत विकट था।
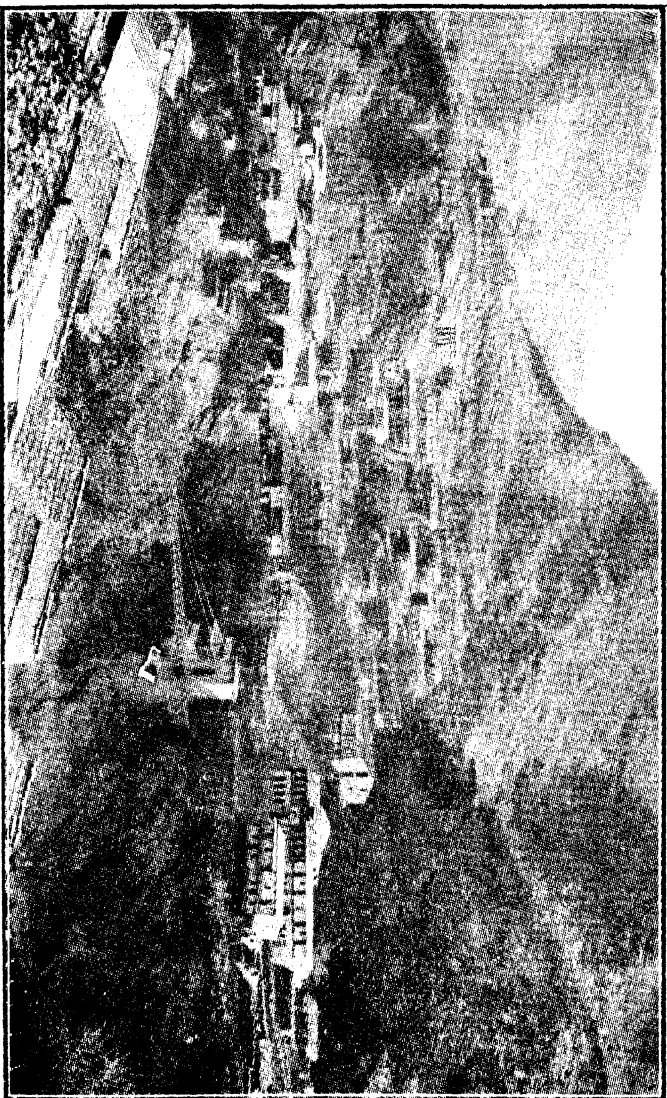
[२]

लगभग चार बजे वहाँ से रवाना हुआ। रास्ता अच्छा था; किन्तु धूप काफी थी! खैरियत इतनी ही थी कि चलना अधिक दूर नहीं था। सिर्फ एक मील के बाद ही देवप्रयाग के भव्य दर्शन हुए। पंडों के कई तल्लोंवाले सुन्दर मकान दूर से ही काफी आकर्षक मालूम हो रहे थे।

सबसे पहले भागीरथी का पुल दिखलाई दिया। उससे कुछ ही आगे बढ़ने पर अलकनन्दा का पुल दृष्टिगोचर हुआ। यहाँ सड़क पर पंडों की खासी भीड़ थी। वही हरद्वारवाला अनुभव हुआ—"बाबूजी, कहाँ घर है? कहाँ से आते हो? कौन पंडा है? इत्यादि।" हमलोग भी काफी सीखे-सिखाये थे। अंट-संट बतलाते हुए आगे बढ़ते गये।

उतार के रास्ते हमलोग नीचे शहर में पहुँचे। नफीस छोटी-सी जगह है। आराम की प्रायः सभी चीजें मौजूद हैं। दूकानें सब प्रकार की हैं। मकान भी अच्छे हैं; किन्तु पंडे ने ठहरने को जगह बहुत गन्दी चुनी। तिल रखने को भी स्थान न था। काफी तकलीफ अपने लोगों को हुई, तिस पर सुना कि आज रात को कुछ खाना-पीना नहीं है। यह तीर्थवास का प्रायश्चित्त था। हाँ, फलाहार के नाम पर कुछ पेड़े और बर्फी उड़ा लेने में किसी को कोई आपत्ति नहीं थी।

कुछ आराम करके मैं बाहर शहर देखने चला। पंडे का एक गण साथ था। डिप्टीसाहब भी हमारे साथ ही चले; किन्तु अलकनन्दा का पुल देखकर ठिठक गये। बोले, मैं नहीं जाता,

कल तो संगम पर पिंड-दानादि के लिये जाना ही है ; बस कल ही जाऊँगा। वे लौट गये।

मैं पुल पार कर इधर आया—टिहरी-रियासत में। प्रायः सभी पंडों के मकान रियासत में ही हैं। रघुनाथजी का मंदिर और संगम इत्यादि भी रियासत में ही हैं। यहीं बदरी-केदार और गंगोत्री-जमुनोत्री की राह अलग-अलग होती है। अलकनन्दा के किनारे-किनारे बदरी-केदार की राह लेनी पड़ती है और भागीरथी के किनारे-किनारे गंगोत्री-जमुनोत्री का रास्ता है।

मैंने सोचा, चलो, जरा गंगोत्री की राह पर भी चल लूँ। क्या जाने उधर जाने का सौभाग्य कभी होगा वा नहीं। इस यात्रा में तो भागीरथी से यहीं बिदा होना है। फिर कहाँ मैं और कहाँ यह विमल धारा। मैं भागीरथी के पुल की ओर चला।

पुल लोहे का ही है। किन्तु हे भगवान्, कैसी बुरी हालत है इसकी। जगह-जगह कीलें निकल आई हैं। पटरियाँ ढीली हो गई हैं। स्थान-स्थान पर दरारें पड़ गई हैं, जिन पर पत्थर धरे हुए हैं। यहाँ भी वही मजमून है—"प्रथमग्रासे मक्षिकापातः"—यात्रा के प्रारम्भ में ही यह आफत ! इसीसे गंगोत्री की राह का अनुमान हो गया। मैं वहीं से लौट पड़ा।

नीचे भागीरथी और अलकनन्दा के संगम पर आया। दिव्य स्थान है। भागीरथी का जल स्वच्छ है—अलकनन्दा का कुछ गन्दा। भागीरथी बर्फ की फुहारें उड़ाती हुई भीषण वेग से आती है—अलकनन्दा अपेक्षा-कृत कम वेग से। भागीरथी-तट पर बैठने से "भागीरथीनिर्झर शीकराणां" वायु पाकर चित्त

प्रसन्न हो जाता है। जल की नन्ही-नन्ही फुहियाँ प्राणों में शीतलता भर देती हैं। ठंढक तो काफी अधिक मालूम पड़ती है।

वहीं किनारे बैठा-बैठा कुछ देर तक भागीरथी की फुहारों का आनन्द लेता रहा। तब तक आरती का समय हो गया। पास ही घाट पर एक गुफा के अन्दर गंगाजी का मन्दिर था। उसी में आरती हुई। जब बाहर फिरा तब कुछ पैसे देने पड़े। काफी भीड़ थी उस समय। लौटते समय दूकान पर चप्पल खरीदनी चाही; किन्तु मेरे पाँव की चप्पल मिली नहीं। अपने पास जो चप्पल थी उसकी कील निकल आई थी; उसी की मरम्मत कराई।

उधर दूकान पर रायबहादुर दुर्गाप्रसाद कलक्टर की स्त्री तथा बहन कल की पूजा के लिये कपड़े खरीद रही थीं; किन्तु हम लोगों को तो कोई तूल-तबील करनी नहीं थी। हमलोग चुपचाप वासस्थान की ओर लौट पड़े।

एक दुकान पर 'अमृतधारा' खरीदने लगा। डिप्टीसाहब के प्रधानामात्य मुन्शीजी भी वहाँ पहुँचे। उनके लिये अमृतधारा बनवा दी। पंडित ठाकुरदत्त शर्मा लाहौरीवाली शीशी ली।

दूकानवालों से बातों का सिलसिला जारी होने पर मालूम हुआ कि एक सज्जन, जो वहीं बैठे हुए मुझसे बातें कर रहे थे, हिन्दू-विश्वविद्यालय के ही विद्यार्थी रह चुके हैं। नाम है पंडित गुरुप्रसाद। अब प्रयाग में पढ़ते हैं।

उसी समय एक लड़का आया—सुन्दर साँवला-सा—राधेश्याम। उसने आते ही गुरुप्रसाद से दुखड़ा रोना शुरू किया कि क्या बतलाऊँ—अपने एक यजमान आये हैं, उनके पास पहुँ-

चने भी नहीं देते, दरवाजे पर दो गूँगे बैठा रखे हैं जो देखते ही भूँक उठते हैं, सामने से ही रोजी छिनी जाती है !

मुझे उस पर ममता मालूम हुई। मालूम हुआ कि जिस यजमान की वह बातें कह रहा है वह मैं ही हूँ। वह मेरी ससुराल का पंडा था। मेरे कहने पर उसने बही खोलकर मेरी ससुराल की वंश-गाथा कह सुनाई। मुझे अन्याय मालूम हुआ कि उसका यजमान दूसरे के हाथ चला जाय। मैंने उसे दूसरे दिन आने के लिये कहा। फिर रास्ता-भर यही सोचता लौटा कि किस प्रकार पंडों में छीना-झपटी होती है और किस प्रकार चुपचाप दूसरे का हक हड़प लेने में उन्हें शर्म तक नहीं मालूम होती।

[३]

आज (ता० १९-५-३३) को सबेरे तीर्थकृत्य करने थे। अतः लोग कपड़े, पञ्चरत्न इत्यादि खरीदने में लगे रहे। मुझे तो अपनी कोई फिक्र थी नहीं। यह सब करने के लिये मा तो थीं ही। मैंने बाबूजी और दीदी को पत्र लिखे।

शौच के लिये गया तो बड़ी परेशानी हुई। जितनी तकलीफ यहाँ हुई उतनी और कहीं नहीं। इसका कारण यह था कि नींद देर से टूटी थी। इस यात्रा-लाइन में टट्टी जाने के लिये स्त्रियों और पुरुषों के निमित्त अलग-अलग स्थान नियत रहते हैं, जिनके दोनों ओर लाल झंडियाँ लगी रहती हैं। बाजाब्ता कार्रवाई करनेवालों को उन्हीं लाल झंडियों के बीच में बैठना पड़ता है। आज मुझे भी उन्हीं में शामिल होना पड़ा !

देवप्रयाग में पिंड-दानादि करने पड़ते हैं। बदरी-नारायण की राह में यह दूसरा स्थान है, जहाँ श्राद्ध-कृत्य होते हैं। इसके बाद

स्वयं बदरीनारायण ही है। पूर्णरूपेण चौरकर्म कराना पड़ा। श्राद्ध में बहुत देर लगी।

संगम-स्नान किया; किन्तु बड़ी मुश्किल से। धारा बड़ी ही वेगवती थी। लोहे के मोटे-मोटे सींकड़ लटके हुए थे। उन्हीं को पकड़कर नहाना पड़ा। नहीं तो डर था कि कहीं पैर उखड़ न जायँ। मा का पैर तो उखड़-सा गया था; किन्तु पंडे के गण ने उन्हें सँभाल लिया।

पूजा के बाद ऊपर रघुनाथजी के दर्शन करने गया। बहुत सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती हैं। बिल्कुल थक गया। द्वारपाल फी आदमी एक पैसा लेता है। मूर्त्तियाँ न जाने कितनी ही हैं; किन्तु श्रीरघुनाथजी की मूर्त्ति वास्तव में अतीव भव्य है। लोग कहते हैं कि वह श्रीशंकराचार्य की स्थापित की हुई है।

वहाँ से लौटकर सीधे पड़ाव पर आया। आकर भोजनादि किया। तीर्थकृत्य समाप्त हो चुके थे। शाम को डेरा-डंडा तोड़ना था। अतः कुछ देर आराम कर लेने के बाद मैं एक बार फिर बाहर आया—देवप्रयाग के अन्तिम दर्शन कर लेने।

दूर ही से एक बार और देखा—भागीरथी की ओर। आज उसका साथ छूट रहा है। भक्तिभाव से उसे प्रणाम किया। उसके उस पार दिखलाई दी मोटर की वह सड़क, जो रियासत टिहरी की ओर से तैयार हो रही थी। हो सकता है, अब तक तैयार भी हो गई हो।

उसके बन जाने पर यात्रियों को काफी सुविधा हो जायगी। पूरे चालीस मील का चक्कर बच जायगा और चार दिन भी व्यर्थ ही नष्ट न होंगे। सबसे बड़ी बात तो यह है कि बिजनी

की विकट चढ़ाई और बन्दरभेल की भयंकर उतराई से जान बच जायगी ; किन्तु नहीं देखने में आवेगा व्यासगंगा का वह विमल दृश्य—छोटे-छोटे पहाड़ों द्वारा घिरी हुई भागीरथी की वह दिव्य धारा ! पर सुविधा के सामने उसकी फिक्र ही किसे है ? बला से—वह ऐसा कोई दृश्य भी नहीं जिसके लिये इतनी परेशानी उठाई जाय। चालीस मील क्या थोड़े होते हैं ? और तिस पर पर्वत-पथ से मुकाबला जितना ही कम होता जाय उतना ही अच्छा है।

मैं फिर पड़ाव पर लौट आया और कुछ देर के लिये लेट रहा।

卐

पहाड़ी पुरुष

अलकनंदा के तीर-तीर

देवप्रयाग से रुद्रप्रयाग तक

[१]

ता० १९-५-३३ शुक्रवार को जिस समय हमलोग देवप्रयाग से चले उस समय सूरज की किरणें बिल्कुल सामने ही पड़ रही थीं, यहाँ तक कि आगे बढ़ना बिल्कुल असम्भव-सा प्रतीत होने लगा। इसी से एक जगह सघन आम्रवृक्ष की छाया देखकर थोड़ी देर के लिये हमलोग वहीं रुक रहे; किन्तु वहाँ हवा में भी एक अजीब गर्मी-सी मालूम हुई। अतः आगे ही बढ़ना अच्छा समझा गया। ५९ वें मील तक हमें धूप मिली। वहीं एक साधु की मठिया थी और एक मन्दिर भी था। फिर दिवानीगढ़ नाम की एक छोटी-सी चट्टी मिली, जिसके बाद हल्की-सी चढ़ाई थी।

तीन मील और चल लेने पर ६२-६ पर एक सुन्दर-सी चट्टी मिली—कुलासू। वहाँ बनिये की दूकान भी थी। तिवारीजी वहीं चाय पीने बैठ गये। पास ही एक सुन्दर पुल था, जहाँ सामने ही मनोहर जलप्रपात दृष्टिगोचर हुआ। हमारे बुजुर्ग वकील साहब वहाँ बैठने का लोभ संवरण न कर सके; किन्तु मुझसे न बैठा गया। तेज तो चल नहीं सकता था, इसलिये धीरे-धीरे आगे ही बढ़ता गया।

सन्ध्या हो गई थी। पर्वत-पथ सुहावना था। हम आगे बढ़ते जा रहे थे, तब तक एकाएक पास के पहाड़ से झमाझम करती हुई कुछ पहाड़ी बालिकाएँ उतर पड़ीं, और हमें घेर-घेरकर गाने लगीं—"जय जय केदारनाथ पाऊँ दरसन तेरा।" उस समय उनका वह गाना बहुत भला मालूम हुआ। मैंने देवप्रयाग में अँगरेजी पाई भुना रक्खी थी; उन्हें देकर छुट्टी पाई।

अब रात हो चली थी। पर्वत-पथ पर बिल्कुल अँधेरा-सा छा गया; किन्तु रास्ता बहुत ही सुन्दर था। पास ही दोनों ओर करौंदे के सघन वृक्ष थे, जिनमें छोटे-छोटे सुन्दर फूल लगे हुए थे। उनकी भीनी-भीनी सुगन्ध से मन मस्त हो गया। उधर थोड़ी ही दूर पर अलकनन्दा की धारा थी, जिसका स्पर्श करती हुई ठंढी-ठंढी हवा बह रही थी। उसी समय श्रीबदरीनाथ-स्तोत्र के 'पवन-मन्द-सुगन्ध-शीतल' की सार्थकता हमें मालूम हुई।

देवप्रयाग से पूरे साढ़े आठ मील चलने पर (६५–४ पर) रानीबाग मिला। काफी अच्छी चट्टी है। सुन्दर मकान हैं। पास ही पानी के नल हैं; किन्तु अँधेरे के कारण मैं वहाँ के दृश्य का पूरा आनन्द न उठा सका।

लोगों ने बतलाया कि रानीबाग में बिच्छुओं का बहुत अधिक उपद्रव है; इसीसे हमारे बहुत-से साथी किसी प्रकार चारपाइयों का प्रबन्ध कर उन्हीं पर सोये; किन्तु हमलोग आदमी थे चार और चारपाई मिल रही थी एक! अतः भगवान का नाम लेकर हमलोग नीचे जमीन पर ही सो रहे।

[२]

बीस मई को बहुत तड़के उठकर मैं चार बजे तक तैयार हो

गया। अन्य साथियों का कुछ देर इन्तजार किया, पर वे साथ न हुए; इसलिये अकेला ही चल पड़ा। रास्ता बढ़िया था, दृश्य सुन्दर।

दो मील चलने पर (६६–७ पर) कोलटा नाम की छोटी चट्टी मिली। वहाँ नीचे दूर-दूर तक तम्बाकू की हरी-भरी खेती देखने में आई। ६८–४ मील पर रामपुर-चट्टी मिली, जो काफी बड़ी और सुन्दर थी; किन्तु मैं वहाँ ठहरा नहीं, आगे ही बढ़ता गया।

अब धूप कुछ-कुछ निकल रही थी। मैं लगभग चार मील चल चुका था। सड़क के पास ही एक जगह, पीपल के पेड़ के नीचे, सुन्दर वेदी बनी हुई थी। कुछ देर वहीं बैठकर इधर-उधर के दृश्य का आनन्द लेने लगा। इस ओर बहुत-कुछ अपने ही देश-जैसा मालूम हो रहा था। पपीहा, पंडुक, कोयल आदि चिर-परिचित पक्षियों के गीत सुनकर चित्त प्रसन्न हो गया। नीचे कहीं-कहीं अलकनन्दा के तट पर काफी समतल भूमि और खेत दृष्टिगोचर हुए।

सत्तरवें मील पर नीचे बहुत ही सुन्दर एक गाँव दिखलाई दिया, जो अलकनन्दा के तट पर चीड़ के वृक्षों से सुशोभित था। राह में उसी गाँव के दो लड़के भी मिले, जो पास ही दिगासू गाँव में पढ़ने जा रहे थे। पूछने पर मालूम हुआ कि उनके गाँव का नाम जिनासू है, और उनका नाम रामसिंह और कुँवर-सिंह। उन्होंने भी मुझसे पैसे माँगे। मैंने पूछा—"क्या स्कूल में तुम्हें यही सिखाया जाता है?"

उनका आत्माभिमान जाग्रत हो उठा। बोले—"नहीं जी, इधर के यात्री पैसे दे जाते हैं, इसीसे माँगते हैं।"

फिर मैंने उनसे इधर-उधर की बातें शुरू कीं। उन्हें यह सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ कि मैं अँगरेजी भी पढ़ लेता हूँ और बड़े-बड़े लड़कों को पढ़ाता हूँ। एक ने परीक्षा-रूप में अपनी एक प्राइमर भी मुझे पढ़ने को दी, जिसमें उसे सन्तोष हो जाय कि मैं वास्तव में सच बोल रहा हूँ !

जब मैं उनकी परीक्षा में पास हो गया तब उनकी श्रद्धा मुझ पर बहुत बढ़ गई। उसके बाद उनसे उनकी गन्दगी पर बात चल पड़ी। मैंने कहा—"देखो जी कुँवरसिंह, तुम इतना गन्दा क्यों रहते हो ? मैं जब अपने देश लौटकर जाऊँगा, तब छपवा दूँगा कि रास्ते में मुझे दो गन्दे लड़के मिले थे।"

पहले तो वे बहुत चकराये; किन्तु थोड़ी ही देर बाद सँभल कर बोले—"जिनासू तो बहुत बड़ा गाँव है। मेरा टोला (या जाने क्या उन्होंने कहा) कैसे बतलाओगे ?"

इसी प्रकार बातें करते-करते हम उनके स्कूल के पास तक पहुँच गये। तबतक स्कूल की घंटी बजी और वे झट भागकर स्कूल में जा पहुँचे।

इकहत्तरवें मील पर आर्कनी मिली। अच्छी सुन्दर-सी बस्ती है। रास्ते में एक काफी चलता-पुर्जा ठाटदार युवक मिला, जो इधर की दुनिया भी देख चुका था। वह घोड़े पर सवार था। कुछ देर तो उसने मेरा साथ दिया, फिर घोड़ा दौड़ाता हुआ आगे की ओर चल दिया। मैं अकेला अपने पथ पर चलता रहा। तब तक सामने देखा कि उतार पर आम के कुछ सघन वृक्ष थे, जहाँ कुछ पहाड़ी बालक लाठियाँ लिये अपनी गौएँ चरा रहे थे। मेरे वहाँ पहुँचते ही उन्होंने चारों ओर से घेर लिया

और झूम-झूमकर, नाच-नाचकर, बड़े ताल-सुर से, गाना शुरू कर दिया—

"तुलसी मगन भये राम गुन गाय के।
राजा चढ़े डांडी घोड़ा,
पालकी सजाय के।
जोगी चले नंगे पाँव,
चिमटा बजाय के।
(साधू चले पाँव पियादे चिमटा बजाय के)
तुलसी मगन भये राम गुन गाय के॥
राजा ओढ़े शाल-दुशाला
पलँग डसाय के।
जोगी ओढ़े मृगछाला
कम्बल बिछाय के।
(साधू ओढ़े काला कम्बल भसम रमाय के)
तुलसी मगन भये राम गुन गाय के॥
राजा 'खावे' लड्डू-पेड़ा,
बर्फी मँगाय के।
जोगी खाय रूखा-सूखा
धूनी लगाय के।
(जोगी खाय रूखा-सूखा आग सुलगाय के)
तुलसी मगन भये राम गुन गाय के॥"

उनका वह गाना बहुत ही भला मालूम हुआ। कुछ दूर

और आगे बढ़ने पर कुछ यौवनोन्मुखी पार्वतीय बालाओं ने भी घेर-घेरकर, झुक-झुककर, नाच-नाचकर, फिर वही गाना सुनाया। कभी 'साधू' कहती थीं तो कभी 'जोगी'। 'मगनु भये' 'मृगु-छाला' आदि में जो लोच थी, वह मन को मुग्ध कर देती थी। उनके कोमल कंठ से निकले हुए संगीत के वे पद बड़े ही सुहावने लगते थे।

७३-४ पर पुल पार कर विल्वकेदार मिला। सुन्दर बढ़िया चट्टी—पवित्र स्थान—महाकवि भारवि के किरातार्जुनीयम् का क्रीडास्थल।

आज की यात्रा में मुझे कुछ भी कष्ट न हुआ। बातों-ही-बातों में मैंने आठ मील की मंजिल तय कर ली। वट-वृक्ष के पास ही ऊपर एक चट्टी पर अपना अधिकार जमाया। सामने अलकनन्दा बह रही थी। मैं ऊपर बैठा-बैठा उसीके दृश्य देखता रहा।

कुछ देर बाद वकील साहब आये। फिर तिवारीजी और उनके बाद और लोग। आज एकादशी थी। रोटी-तरकारी बनी। अलकनन्दा में स्नान किया। पानी बहुत गन्दा था। पुल के पार एक ओर झरने के पास पनचक्की देखने गया, जहाँ पोदीने का जंगल-ही-जंगल दिखलाई पड़ा।

भिल्लेश्वर महादेव के दर्शन किये। लोगों ने इन्हें बिल्लेश्वर बना दिया है। कहते हैं कि गोत्र-हत्या के पापी पांडवों को शिवजी दर्शन देना नहीं चाहते थे; इसीसे यहाँ बिल्ली का रूप बना लिया था! वास्तव में यहाँ शिवलिंग की शक्ल कुछ अजीब-सी है भी; किन्तु मेरा अपना अनुमान है कि यह बिल्लेश्वर भिल्लेश्वर

अथवा विल्वेश्वर का ही बिगड़ा हुआ रूप है। ऊपर अर्जुन का चरण-चिह्न भी बना हुआ है, जिसे देखकर भारवि के प्रसिद्ध महाकाव्य की याद आ जाती है।

यहाँ से चलने के पहले एक गढ़वाली सज्जन मिले, जो शायद रियासत-टिहरी के कोई कर्मचारी थे। उन्होंने काफल के ताजे फल खिलाये, जिनमें एक अजीब मिठास और तुर्शी थी। उन्हीं सज्जन ने पहाड़ी बादाम भी खिलाये और चम्पा के कुछ सुन्दर फूल उपहार में दिये। "मैं तोड़ लाई चम्पे की कलियाँ रे महाराजा की बगिया से।" उन्हें पाकर अपने यहाँ की बगिया की याद आ गई। वे सज्जन आध मील से कुछ और अधिक दूर तक हमारे साथ आये। सामने अलकनन्दा का पुल था। उसी को पार कर वे उस ओर टिहरी-नरेश के कीर्त्तिनगर में चले गये।

एक मील पर शीतला-रेती मिली। इधर नदी का पाट काफी चौड़ा है। किनारे काफी खुली हुई जगह है। आध मील और चलने पर नारद-स्थान मिला। इधर सड़क बिल्कुल समतल है। दोनों ओर झाड़ियाँ भी लगी हैं। पहाड़ दूर पर दिखलाई देते हैं। धूल सड़क पर इतनी है कि मालूम होता है मानों फिर हम अपने समतल प्रदेश में आ गये हों। हवा जोर से चल रही थी—ठीक प्रतिकूल दिशा से, जिसके कारण आँखों में धूल भर जाती थी, आगे बढ़ने में बहुत कठिनाई हो रही थी।

थोड़ी ही दूर आगे बढ़ने पर शीलनिधि की कन्या के स्वयं-वर का स्थान मिला। रामायण की कथा याद आ गई। खयाल हुआ, यह श्रीनगर शायद वही श्रीपुर है, जिसका निर्माण भगवान् विष्णु ने नारद के अहंकार-भंजन के लिये किया था—

"तेहि पुर बसहिं सीलनिधि राजा।
अगनित हय गय सेन समाजा॥
बिस्वमोहिनी तासु कुमारी।
श्री बिमोह जिसु रूप निहारी॥"

उसी कन्या को देखकर मुनि अपना सारा वैराग्य भूल गये और परेशान-से फिरने लगे। "जप तप कछु न होय यहि काला; हे बिधि मिलै कवन बिधि बाला!" उसके बाद उनकी जो दुर्दशा हुई, उसे सभी जानते हैं। मुझे शीलनिधि-कन्या के स्वयंवर-स्थान को देखकर नारद के 'मर्कट बदन भयंकर देही' का ध्यान हो आया, और मैं अपनी हँसी न रोक सका।

उसके कुछ ही आगे नारायण का स्थान मिला, जिसका बहुत-कुछ माहात्म्य लिखा हुआ था। पुजारी की ओर से एक लड़का यात्रियों को निमन्त्रण देने के लिये सड़क पर ही खड़ा था। उसकी बातों में आकर हमलोगों ने कुछ दूर उधर बढ़ने का प्रयास भी किया; किन्तु मन्दिर इतनी दूर था कि हमें बीच से ही लौट आना पड़ा।

थोड़ी ही दूर पर कमलेश्वर का मन्दिर मिला, जिसके विषय में लिखा है कि भगवान् रामचन्द्र रोज सौ कमलों से शिव को पूजा करते थे, इसीसे यहाँ शिवजी का कमलेश्वर नाम प्रसिद्ध हुआ—

"पुनः कदाचिद्भगवान् रामरूपी जनार्दनः।
पूजयामास कमलैः प्रत्यहं शतसंमितैः॥
ततोऽवधि महाराज कमलेश्वरतां गतः॥"—स्कन्दपुराण

पहाड़ी स्त्रियाँ

७६ वें मील पर श्रीनगर मिला। सबसे पहले पौड़ी की ओर जाती हुई अच्छी-सी सड़क दिखलाई दी। फिर अस्पताल मिला, टेनिस के रैकेट लिये कुछ सूटधारी नवयुवक भी मिले, जिससे खयाल हुआ कि यहाँ हाइस्कूल भी है। धूल उड़ने के कारण बहुत कष्ट हुआ। बड़ी मुश्किल से मंजिल तय की। बाबा काली कमलीवाले की धर्मशाला तक पहुँचते-पहुँचते काफी देर हो गई। मुनीम ने अच्छी खातिर की। चिट्ठी देखी। कोई भी कष्ट न होने पाया। मुझे अफसोस इसी बात का रह गया कि देर होने के कारण मैं श्रीनगर अच्छी तरह न देख सका; किन्तु जितना भी देखा, उससे यही धारणा हुई कि श्रीनगर काफी सुन्दर शहर है। सड़कें चौड़ी, मकान सुन्दर, बीच में छोटा-सा पार्क। यहीं गढ़वाल की पुरानी राजधानी थी। अब भी यह व्यापार का अच्छा केन्द्र है। पुराणों के अनुसार इसका धार्मिक महत्त्व भी काफी अधिक है। यहीं चंडमुंड का विनाश हुआ था। यहीं अर्जुन ने पाशुपतास्त्र प्राप्त किया था। दुःख है कि मैं श्रीनगर को और अधिक समय न दे सका। फिर न जाने कब अवसर आवेगा, राम जाने !

[३]

२१-५-३३ रविवार को सवेरे उठने पर भी कुछ देरी हो हो गई। साढ़े चार बजे वकील साहब और तिवारीजी के साथ श्रीनगर से चला। एक मील पर एक उजड़ी-सी बस्ती मिली, जिसका नाम एक व्यक्ति ने श्रीकोट बतलाया। घुमावदार रास्ते से चढ़ाई-उतराई तय करते हुए हम ८१-३ पर सुकृता पहुँचे। सामने चढ़ाई देखकर कुछ देर एक दूकान पर रुक गये। दूकानदार ने

इस स्थान का नाम सुकदेव बतलाया; किन्तु हमारे तिवारीजी उसे बराबर सुक्रतारा कहते रहे।

आगे एक मील तक चढ़ाई ही थी। ८२–५ से राह कुछ सीधी मिली। फरासू नाम का एक सुन्दर गाँव दिखलाई दिया। एक फर्लाङ्ग बाद उतराई-ही-उतराई मिली, उसके बाद फिर ८३ मील से चढ़ाई। ८४-५ मील पर भट्टीसेरा-चट्टी मिली। सबसे पहले ही बाबा काली कमलीवाले की धर्मशाला मिली, और मैं वहीं ठहर गया। झाजी उससे भी एक अच्छी जगह लेकर टिके थे, जहाँ पानी का बहुत आराम था; किन्तु और आगे न बढ़ने के कारण मुझे उसका पता न चला।

धर्मशाला के नीचे पहाड़ से सुन्दर पानी आ रहा था। शंकर वहीं से पानी भर लाया। मैं भी नीचे शौच-स्नानादि के लिये गया। शिलाखंड पर बैठकर नहाने में बहुत आनन्द आया। जगह-जगह पोदीने के पौधे दिखलाई पड़े। खाने-पीने के बाद मैं कुछ देर के लिये सो रहा। फिर उठा, तो दिनचर्या लिखी। सामने कठिन चढ़ाई देखी—सोचा कि दिन कुछ और ढल जाय तो आगे चलूँ।

आखिर शाम को पाँच बजे वहाँ से चला। थोड़ी ही दूर पर पनचक्की मिली। ८४–५ के बाद खड़ी चढ़ाई शुरू हो गई। तीन फर्लाङ्ग के बाद एक छोटा रास्ता मिला। मैंने वही राह पकड़ी। चारों ओर चीड़ का सुन्दर जंगल था। उसकी सुन्दर सुवास से चित्त प्रसन्न हो गया। थकान उतनी न मालूम हुई।

८६ मील पर छाँतीखाल मिला। वहीं घाटी पर तिवारीजी इत्यादि का आसन पड़ा हुआ था। वहाँ पहुँचते ही हिम-मंडित

शुरू-शुरू में शीत के कारण अत्यधिक कष्ट होता है। हम लोगों के वहाँ पहुँचने के पहले, यात्राकाल के प्रारम्भ में ही, ऐसा सुनने में आया कि बहुत-से लोग सर्दी के कारण ठिठुर कर मर गये। कितनों ही की, न्यूमोनिया के कारण, मृत्यु हुई। रास्ते पर जो बर्फ जमी थी उसमें इतनी फिसलन थी कि एक सेठ अपने डांडीवालों के साथ ही फिसलकर सीधे मन्दाकिनी में चला गया। ऊपर की बर्फ फट गई और वे अन्दर गायब हो गये। फिर किसी का पता भी न चला!!!

हमलोग तो सुनते ही काँप उठे; किन्तु उसी समय अन्दर से मानों किसीने उसी पुराने स्वर में उत्साहित किया—'विघ्नों की परवाह न कर, बस अपनी राह चला चल।'

अठाइस मई को सवेरे हमलोग रामबाड़ा से चले। थोड़ी ही दूर पर रास्ता बर्फ से ढँका मिला। काफी खतरनाक था। जगह-जगह ऐसा जान पड़ता था, मानों टूट रहा हो। चढ़ाई पर चढ़ना था, उसपर फिसलन थी! डर था कि कहीं फिसले तो सीधे 'स्केट' करते हुए नदी में चले जायँगे।

किसी-किसी तरह मैं उस पार पहुँच गया। लाठी ऐसे अवसर पर काफी सहायता देती है। फिर मैं माँ के लिये ठहर गया। इस खतरनाक राह में हम सभी साथ हो चले। रास्ते में चार बार बर्फ पर चलना पड़ा और आखिरी बार की बर्फ तो काफी दूर तक थी।

धूप निकल चुकी थी। सूरज की किरणें बर्फ के ऊपर पड़कर उज्ज्वल चाँदी के समान चमचमा रही थीं। दूर-दूर तक बिल्कुल बर्फ-ही-बर्फ थी। रास्ते की बर्फ कठिन थी, किन्तु

आसपास की मुलायम। हाथ में लेने पर बिल्कुल गोल गेंद के समान हो जाती थी; किन्तु मैंने उसे चखा नहीं। जिन्होंने चखा, वे कहते थे कि कुछ अच्छी नहीं मालूम होती।
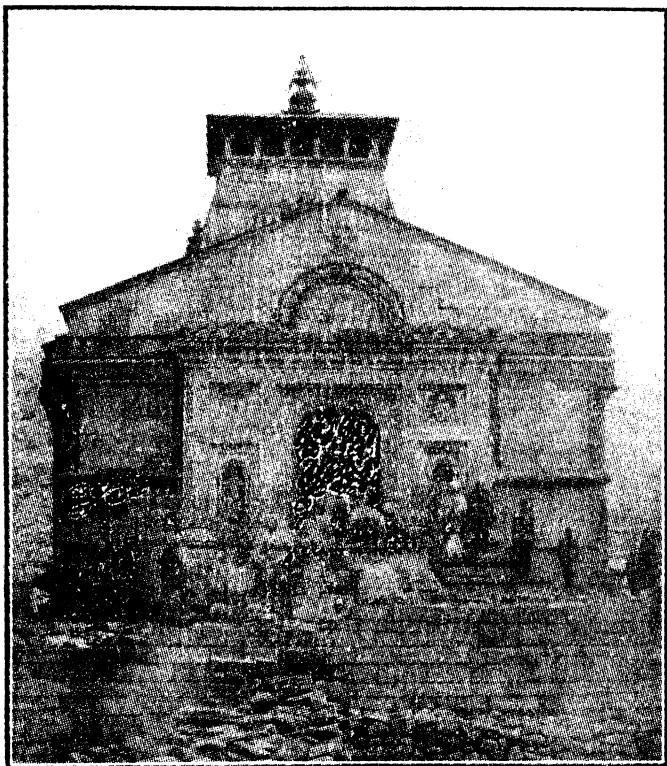
श्रीकेदारनाथ का मंदिर (सामने का दृश्य)—११७५३ फीट

उस बर्फिस्तान में एक बात पर मुझे बहुत आश्चर्य हुआ।
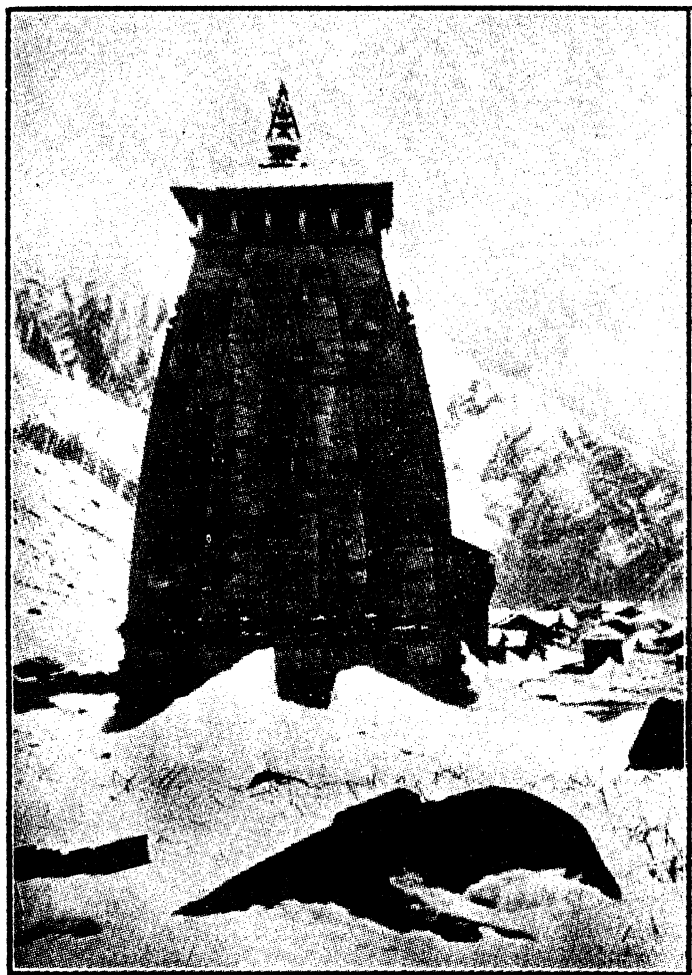
श्रीकेदारनाथ का मन्दिर; दाहिनी ओर केदारनाथ की बस्ती है (पृष्ठ ११६)

रंग-बिरंग के फूल खिले हुए थे—इतने सुन्दर, इतने सुकुमार कि देखकर तबीयत खुश हो जाती थी। शंकर ने मुझे कुछ फूल तोड़कर दिये भी। एक ही फूल में विविध रंग थे! किन्तु उन फूलों का नाम उसे भी नहीं मालूम था।

आखिरी बर्फ के पास पहुँचने पर दूर से ही भगवान् केदारनाथ का दिव्य मन्दिर दृष्टिगोचर हुआ। उसीके लिये इतना कष्ट उठाकर यहाँ तक आया था। कुछ आगे बढ़ने पर मन्दाकिनी पर लोहे का एक छोटा-सा पुल मिला। वहीं एक छोटा-सा मन्दिर भी था—संगमेश्वर महादेव का—पुल के उस पार। पुल पार कर हमलोग पुरी में आये। उसकी भी शोभा निराली ही थी। जगह-जगह बर्फ—मकानों पर बर्फ—बरामदों पर बर्फ—छतों पर बर्फ। जहाँ हमलोग ठहरे वहाँ सामने ही मकान के छप्पर पर भी बर्फ जमी थी।

कुछ आराम करने के बाद हमलोग स्नान करने गये। सामने मन्दाकिनी बह रही थी—तीव्र वेग से। बिल्कुल बर्फ का जल था। किसकी मजाल थी कि उसमें पैठकर स्नान करे। सभी ने लोटे से स्नान किया, फिर भी पानी इतना ठंढा था कि मालूम होता था, अंग गल गये। वहीं घाट पर स्नान-संकल्पादि हुए और मन्दिर में दर्शन।

फिर केदारनाथ-दर्शन की सलाह हुई। औरतों के कारण बहुत विलम्ब हो गया। वे इधर-उधर के सामान लेने लगीं, थालियाँ सजने लगीं। माँ ने मेवा, वस्त्र, सुवर्ण आदि सबका प्रबन्ध कर लिया था। मुझे कुछ भी नहीं करना था।

मन्दिर जाते समय बर्फ पर काफी दूर तक चलना पड़ा।

नंगे पाँव होने के कारण कष्ट भी कम न हुआ; किन्तु ज्योंही उसके बाहर निकले, पैर ज्यों-के-त्यों हो गये। जान पड़ा, मानों बर्फ पर चले ही न थे !

मन्दिर में बिल्कुल निश्चिन्त भाव से पूजा करने का प्रबन्ध पंडों ने कर दिया था। पहले तो फाटक में घुसने के लिये पैसे देने पड़े—टैक्स-रूप में ! सामने ही वृहदाकार नन्दी था। फाटक के अन्दर जाने पर पहले कमरे में पाँचों पांडव, द्रौपदी, कुन्ती इत्यादि के दर्शन हुए। ऊपर विशाल घंटा टँगा हुआ था। दूसरे में पार्वती और कार्त्तिकेय के दर्शन हुए। तीसरे में भगवान् केदारनाथ की पिंडी थी—काफी बड़ी-सी।

मन्दिर में अन्धकार होने के कारण दीपक जल रहा था। चौबीसों घंटे जलता ही रहता है। उसके प्रकाश में मैंने देखा कि शिवमन्दिरों में प्रायः जैसे लिंग देखे जाते हैं, उनसे यह पिंडी बिल्कुल भिन्न ही है। इसके विषय में वहाँ एक अजीब कहानी भी सुनी। लोगों ने बतलाया कि यह भैंस का पुट्ठा है और देखने में वस्तुतः उसकी शक्ल वैसी ही मालूम होती थी !

कहानी यों है कि पांडवों को जब गोत्रहत्या का पाप लगा, तब उनसे कहा गया कि शिव के दर्शन से ही वह पाप दूर होगा। अतः वे हिमालय की ओर शिव के दर्शन को चले। उधर शिव ने सोचा कि इन पापियों को दर्शन देना उचित नहीं। बस वे पांडवों के सामने से भाग चले। विल्वकेदार में बिल्ली के रूप में हो गये। कमलेश्वर में कमल का रूप धारण कर लिया। इसी प्रकार जब उनका पीछा करते-करते पांडव लोग यहाँ पहुँचे, तब शिवजी चरती हुई भैंसों के साथ भैंसा-रूप हो गये !

भीमसेन ने अपने छोटे भाइयों से कहा—"शिव अवश्य इन भैंसों में हैं। मैं पैर फैलाकर खड़ा होता हूँ और तुमलोग भैंसों को मेरे पैरों के अन्दर से हाँको। और भैंसें तो चली आवेंगी; किन्तु शिव-रूपी भैंसा वैसा न करेगा। बस हमलोग पहचान लेंगे।" आखिर वैसा ही हुआ। शिव ने देखा, अब तो आफत आई। बस झट वे जमीन के अन्दर घुसने लगे। आधा से अधिक शरीर घुस चुका था, तबतक भीमसेन ने देखा और झट कूदकर उनका पुट्ठा पकड़ लिया। तुरत आकाशवाणी हुई—"मुझे छोड़ दो। बाहर निकालने का प्रयास न करो; क्योंकि मेरा सिर पशुपतिनाथ (नेपाल) में पहुँच गया है। तुमने मुझे छू लिया है। तुम्हारे सारे पाप छूट जायँगे।"

पांडवों को और चाहिये क्या था? मुँहमाँगी मुराद मिल गई। वहाँ उन्होंने मन्दिर बनवा दिया। लोग कहते हैं कि केदारनाथ का यह मन्दिर पांडवों का ही बनवाया हुआ है।

'रचित-पांडव रुचिर मन्दिर गिरि-हिमालय-शोभितम्।
निकट मन्दाकिनि बहत केदारनाथ महेश्वरम्॥'

पता नहीं, यह कहानी किसी पुराण में है अथवा नहीं; किन्तु वहाँ के निवासियों में तो यह कथा प्रसिद्ध है और मन्दिर में देवता की जैसी पिंडी है उससे इस कहानी की बहुत-कुछ पुष्टि भी हो जाती है।

लोग शिव को रुपया, सोने-चाँदी का बेलपत्र, धोती आदि चढ़ाते हैं। पिंडी पर घी मलते हैं। अँकवार-भेंट करते हैं। देवता से गले-गले मिलते समय बहुत आनन्द आता है। भला भक्त

और भगवान् का यह मिलन क्योंकर आनन्दवर्द्धक न होगा। शिव के सिवा शायद और किसी देवता में यह उदारता नहीं। शायद कोई भी देवता इतना खुलकर अपने भक्त से नहीं मिलता।

अपनी पर्वत-यात्रा समाप्त कर जब हम फिर समतल प्रदेश की ओर लौट रहे थे, तब हमारे एक सहयात्री ने ठीक ही कहा था—"शिव जनता के देवता हैं, आप उन्हें देख सकते हैं, छू सकते हैं, अँकवार-भेंट कर सकते हैं। वे बदरीनाथ के समान बड़े आदमी नहीं हैं जिनके दर्शन दूर से ही होते हैं!"

रुद्री का संकल्प कराते समय पंडे का व्यवहार उतना अच्छा न रहा; क्योंकि इनकी बराबर यही कोशिश रहती है कि किस प्रकार यजमान को चूस लें। खैर, देवता की यथोचित पूजा कर बाहर आया। मन्दिर की परिक्रमा की। चारों ओर बर्फ जमी थी। दो कुंड उस समय भी बर्फ के नीचे दबे पड़े थे। परिक्रमा करते समय भी बर्फ पर चलना पड़ा। मन्दिर के पीछे देखा, बर्फ का ठिकाना न था। "जिधर देखता हूँ उधर तू-ही-तू है।" जड़ से लेकर चोटी तक बर्फ-ही-बर्फ। यहीं से असली हिमालय शुरू हो गया—दिव्य, उज्ज्वल, ज्योतिर्मय। मैंने भक्ति-भाव से उसे प्रणाम किया।

मन्दिर से चलते समय सवा रुपया भोग के लिये देता आया, जिसकी रसीद भी मिली। लौटती बार उदक-कुंड गया। वहाँ भी अन्दर जाने के लिये एक पैसा देना पड़ा। एक पुजारी था, जिसने पूजा की विधि बतलाई। "ॐ रूँ क्षूँ रूँ क्षूँ, रूँ क्षूँ रूँ रूँ ॐ"—बायें हाथ से तीन बार आचमन। फिर वही "रूँ क्षूँ" और दाहिने हाथ से भी तीन बार आचमन। एक बार

और वहीं 'रूँ क्षूँ'—बैल के समान मुँह लगाकर तीन बार आचमन। पानी में मुझे गन्धक का स्वाद मिला। वहाँ भी कुछ भेंट चढ़ानी पड़ी।

वहाँ से लौटकर ठिकाने पर आया। आठ आने सेर पूरियाँ मिलीं—आपस की स्पर्द्धा के कारण। नहीं तो सामान यहाँ काफी महँगे मिलते हैं। दूध रुपये सेर।

दोपहर में जगह-जगह खत लिखे। सन्ध्या समय आरती देखने गया। शृंगार अच्छा बना था। वहाँ से आकर कुछ देर तक बाहर की शोभा देखी। फिर चुपचाप घर के अन्दर दाखिल हो गया। सर्दी बहुत अधिक थी। रात में एक बार मुझे बाहर जाना पड़ा। उस समय की सर्दी का क्या बयान करूँ। बर्फ के पास ही बैठकर फारिग होना पड़ा। उस समय की मेरी अवस्था का पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं। पास ही नदी का पाट था—बिल्कुल बर्फ से ढँका हुआ। अनुमान किया कि शायद दूधगंगा यही है।

[२]

उनतीस मई को सवेरे केदारनाथ से लौटती यात्रा थी। बहुतों की तो सलाह थी कल शाम को ही लौट चलने की; किन्तु हमलोगों ने सोचा कि संयोगवश जब सोमवार मिल रहा है, तब फिर उस दिन शिव की पूजा एक बार और क्यों न कर लें; क्योंकि सोमवार ही तो वास्तव में शिव-वार है। हमारे दल के बूढ़ों की यही राय थी और मेरा क्या पूछना! मेरी तो इच्छा थी ही कि कम-से-कम चौबीस घंटे हमलोग केदारनाथ में और ठहर लें। फिर इसके दर्शन का सौभाग्य कहाँ मिलेगा।

मैं बहुत सवेरे उठा और कुछ अँधेरा रहते ही प्रातः-कृत्यादि से निवृत्त हो आया। उदक-कुंड के समीप हाथ धोये। बिल्कुल ठिठुर-सा गया। भयंकर सर्दी थी। भागा-भागा डेरे पर आया और कम्बल लपेटकर लेट रहा। उसी परेशानी और भुँझलाहट में भगवान् शंकर से पूछ बैठा—

बर्फ़ों की हैं चट्टान खड़ी, बर्फ़ों में धाम बनाये हो।
बतला दो क्यों हे नाथ, यहाँ इस विजन देश में आये हो?
है शीतभीति अतिमात्र जहाँ, सब अंग ठिठुर जहँ जाते हैं।
कँपकँपी जहाँ लग जाती है, सब भाव सिकुड़ जहँ जाते हैं॥
दर्शन दुर्लभ अतिमात्र जहाँ, हिम जहाँ सदा छाया रहता।
बर्फ़ों से पिघल-पिघल करके, बर्फ़ीला जल नित है बहता॥
ऐसे दुखप्रद शीतस्थल में, अपने को प्रभो, छिपाये हो।
बतला दो क्यों हे नाथ, यहाँ इस विजन देश में आये हो॥

सवेरे स्नान करने की हिम्मत न होती थी, फिर भी मन्दाकिनी-तट पर जाकर देह-हाथ पोंछ लिये। झाजी और तिवारीजी चले गये थे। सामने ही मैंने देखा, बर्फ के रास्ते पर चला जा रहा है हमलोगों का गूँगा—नंगे पाँव, नंगा बदन!

पट खुलने पर देवता के दर्शन किये। फिर केदारनाथ के पंडे की मजदूरी और रुद्री आदि का बखेड़ा तय हुआ। यहीं पूरी खाई। फिर एक बार मकान के बाहर आकर हसरत-भरी निगाहों से चारों ओर देखा। मन्दिर को प्रणाम किया। पुरी को प्रणाम किया। फिर चल पड़ा उसी बर्फ़ीले पथ पर, जिस पथ से आया था।

गिरिराज के भव्य दर्शन हुए। इस यात्रा में उसका प्रथम दर्शन यही था। श्रद्धा से मैंने उसे प्रणाम किया। बड़ा ही पवित्र दृश्य था उस तेजःपुंज गिरिराज का। सूरज की किरणें उस पर जगमगा रही थीं—

'ओधर दृग छकि रहत अटल छवि निरखि हिमालय।'

बहुत देर तक उसे देखता रहा। थोड़ी देर बाद मेघों ने आकर उसे ढँक लिया। वह सुन्दर दृश्य आँखों से ओझल हो गया। हमलोग वहाँ से चल पड़े।

आगे उतार-ही-उतार था। रास्ते में चीड़ के जंगल, अंजीर के फल, अनार के फूल, हरसिंगार के वृक्ष इत्यादि मिले। करौंदे की भीनी-भीनी सुगन्ध से अन्तरात्मा पुलकित हो गई।

कुछ दिन रहते ही हमलोग हरद्वार से ८८ मील पर खाँकरा-चट्टी पहुँच गये। डिप्टीसाहब इत्यादि बाहर ही कम्बल बिछाकर बैठे थे। बड़ी ही सुहावनी सन्ध्या थी। हल्की ठंढी हवा के कारण बहुत आनन्द आ रहा था। बिलकुल वसन्त-ऋतु का-सा दृश्य मालूम हो रहा था। सामने देखा, कठिन चढ़ाई थी। ऊपर लाल गैरिक पथ का दृश्य अनोखा था। कालिदास के "अकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम्" की याद आ गई।

[४]

दूसरे दिन २२-५-३३ सोमवार को खूब तड़के उठा। जल्दी ही प्रातःकृत्य समाप्त कर आगे चल पड़ा। उस समय सवा चार बजे थे। चारों ओर अन्धकार फैला हुआ था। आगे चढ़ाई-ही-चढ़ाई थी; किन्तु प्रभात की उस स्वच्छ वायु में थकान कैसी? आनन्द से रास्ता तय करता हुआ आगे की ओर बढ़ता

गया। उधर अन्धकार में ही कुछ व्यक्ति आते हुए दिखलाई दिये। वे अगले पड़ाव से आ रहे थे। कितनी रात रहते चले होंगे वे लोग ! वास्तव में इस पहाड़ी यात्रा में जितना ही तड़के चला जाय, उतना ही अच्छा।

वे लोग पंजाबी थे, और लौटती यात्रा में हरद्वार जा रहे थे। मेरे लिये जो चढ़ाई थी वही उनके लिये उतराई थी। उद्देश्य-भेद से एक ही चीज किस प्रकार भिन्न प्रकृतिवालों के लिये भिन्न-भिन्न हो जाती है। उन्हें देखकर मुझे इसी का ध्यान हो आया। साथ ही संसार के आवागमन का भी खयाल हुआ—

"वे आते हैं, हम जाते हैं,
उनका आना, मेरा जाना।
यही प्रकृति का खेल।
जग में किससे किसका मेल ?"

आगे बढ़ता चला। थोड़ी ही देर में विश्व चराचर चैतन्य हो उठा। पास के वृक्षों से पक्षियों का गाना शुरू हो गया। बुलबुल की तान, तूती का स्वर, तीतर की पुकार सुनकर चित्त प्रसन्न हो गया। एक चिड़िया पास के ही पेड़ से पुकार रही थी—"शिवजी, बूटी घोंटो।" उनके सिवा न जाने और कितने ही अपरिचित पक्षी थे, जिनका नाम मुझे नहीं मालूम ; किन्तु उस पर्वत-प्रान्त में भी अपने परिचितों का स्वर सुनकर मैं आनन्द से विभोर हो उठा। एक मील के बाद गहरा उतार मिला, फिर भी उसे तय करने में कोई कष्ट न हुआ। पतन का मार्ग वास्तव में बहुत सुगम होता ही है !

९०–४ पर नरकोटा मिला। वहाँ पाँच-सात मिनट विश्राम कर मैं फिर आगे बढ़ा। सैनिटरी-इन्स्पेक्टर सफाई का प्रबन्ध कर रहा था। यात्रियों की मंडली उसे गन्दी कर आगे चली गई थी। सफाई का जमादार उसीकी सफाई में लगा हुआ था। यात्रा-लाइन में इस ओर सरकार की ओर से विशेष ध्यान रक्खा जाता है। नहीं तो सचमुच न जाने कितनी गन्दगी फैलती।

इसके बाद फिर एक मील की चढ़ाई मिली। ९१–५ पर पंचभाई की खाल तक चढ़ता ही गया। सुना था कि वहाँ से भी हिमालय का सुन्दर दृश्य दिखलाई देता है; किन्तु उस समय दुर्भाग्यवश उसपर मेघ का पर्दा पड़ा हुआ था। अतः उसके दर्शन न पा सका। वहाँ से फिर उतराई मिली और कुछ-कुछ धूप भी। सूरज की किरणें उग आई थीं; पर उनमें उस समय वह तेजी न थी।

९३–४ पर कुछ थोड़ी-सी चढ़ाई मिली, उसके बाद जबर-दस्त उतराई। ९४ मील पर गुलाबराय मिला। गुरुवर नरदेव शास्त्री से उसकी बड़ी तारीफ सुनी थी; किन्तु स्वयं उसका कुछ भी आनन्द न उठा सका। थोड़ी देर आराम कर लेने के बाद पानी पिया और आगे की ओर चल पड़ा।

९५–४ पर अलकनन्दा का पुल मिला—सुन्दर झूले का। वहीं बदरीनारायण और केदारनाथ की राहें अलग होती हैं। बदरीनारायण का पथ पुल के इसी पार से अलकनन्दा के किनारे-किनारे ऊपर की ओर चढ़ता हुआ दिखलाई दिया, और केदारनाथ जाने के लिये पुल पार कर दूसरी ओर जाना पड़ा।

वहाँ मील-स्टोन देखा — केदारनाथ ४८ मील। हरद्वार-बदरीनारायण-पथ का मील-पत्थर छूट गया।

चट्टी गुलाबराय (रुद्रप्रयाग से पहले)

पुल से लगभग दो फर्लाङ्ग आगे चलने पर बाबा काली कमलीवाले की धर्मशाला मिली। चौकीदार को खत दिखाकर ऊपर जगह ले ली। मक्खियाँ बहुत थीं, गन्दगी भी काफी; पर और कहीं अच्छी-सी जगह नहीं मिली। इसलिये लाचार वहीं डेरा डालना पड़ा।

नीचे बाबा काली कमलीवाले का आयुर्वेदिक औषधालय

था। उसके वैद्य आनन्दस्वरूपजी अभी बिल्कुल नये थे। बातों के सिलसिले में मुझे यह भी विदित हुआ कि वे कभी ज्वालापुर-महाविद्यालय के छात्र रह चुके हैं। इसलिये उनपर एक दावा-सा मालूम हुआ। मैंने उनसे खाँसी की दवा ली।

उनके पास ही एक और सज्जन थे, जिनका नाम मुझे याद नहीं। उन्हें बड़े-बड़े लोगों से अपनी बही में कुछ-कुछ लिखवाने का बहुत शौक था। उनके पास प्रयाग के डाक्टर आचार्य और हमारे श्रद्धेय अध्यापक प्रोफेसर श्रीजीवनशंकरजी याज्ञिक के छोटे भाई डाक्टर भवानीशंकरजी याज्ञिक के लेख देखने में आये। उनसे आराम हमें काफी मिला।

हमारे दल के लोग तब तक नहीं पहुँचे थे। सबसे पहले हमारे बूढ़े काकाजी (वकील साहब) आये और उनके बाद अन्यान्य लोग। सभी ने उसी धर्मशाला में डेरा डाला। कुछ देर बाद संगम-स्नान की तैयारी हुई। इसी बीच मैं अपने जरूरी काम से फारिग हो आया।

हमारी धर्मशाला अलकनन्दा के तट पर थी। वहाँ से कुछ दूर चलने पर संगम मिला—मन्दाकिनी और अलकनन्दा का। लगभग डेढ़ सौ सीढ़ियों का पक्का घाट बँधा हुआ था। बहुत नीचे उतरना पड़ा।

वहाँ संगम का दृश्य अजीब था। मन्दाकिनी की धारा हल्की-सी थी—एक अद्भुत सौकुमार्य लिये हुई। जल निर्मल था, सुन्दर मन्दगति। दूसरी ओर अलकनन्दा की धारा विकट थी—गन्दी, तीव्र तथा भयावनी। संगम में इतने जोर से उछलती हुई मन्दाकिनी पर सवार होती थी मानों कोई भयंकर व्याघ्र

कपिला गाय को दबाये डालता हो। यहाँ भी साँकल पकड़कर नहाने का प्रबन्ध था; किन्तु यहाँ का संगम देवप्रयाग से अधिक भयंकर था।

धूप काफी हो गई थी। सीढ़ियों पर चढ़ते-चढ़ते परेशान हो गया। सड़क के बाद फिर सीढ़ियों द्वारा ही ऊपर रुद्रेशवर के मन्दिर में जाना पड़ा। बड़ा सुन्दर स्थान है। वहीं प्रज्ञाचक्षु स्वामी सच्चिदानन्दजी से कुछ बातें हुईं। वे किसी संस्कृत-पाठशाला के लिये चन्दा इकट्ठा कर रहे थे। कुछ देर बाद वासस्थान पर लौट आया।

खाने के बाद आराम करने की सूझी; किन्तु मक्खियों के मारे आफत थी। उधर गर्मी भी काफी मालूम हुई, इसलिये कमरा खुलवाने के फिराक में लगा। हस्ताक्षर के अभिलाषी उक्त सज्जन ने हमारे साथ के डिप्टीसाहब के खत के लोभ से काफी सहायता दी और एक अँधेरी-सी कोठरी खुलवा दी, जिसमें काफी ठंढक थी और मक्खियों का भी प्रवेश न था। उसमें हम सभी अपने-अपने बिस्तर बिछाकर सोये। दुपहरी आनन्द से कट गई, दिन ढल जाने पर आगे चलने की तैयारी होने लगी।

अब तक तो हम उत्तराखंड के साधारण पथ पर थे, जिस पर चलकर चाहे केदारनाथ जाते या बदरीनाथ; किन्तु रुद्रप्रयाग पहुँचकर दोनों की राह अलग-अलग हो गई—अलकनन्दा के किनारे-किनारे बदरीनारायण और मन्दाकिनी के किनारे-किनारे केदारनाथ।

हमलोगों का निश्चय था कि पहले श्रीकेदारनाथ के ही

रुद्रप्रयाग (मन्दाकिनी का पुल दिखाई देता है)—पृष्ठ ८०

दर्शन करेंगे ; क्योंकि यही सनातन नियम है। जो यात्री श्री-बदरी-केदार दोनों के दर्शन करना चाहते हैं, वे प्रायः श्रीकेदार-नाथ के दर्शन करने के बाद श्रीबदरीनाथ के दर्शन करते हैं। इसलिये हमलोग भी साढ़े चार बजे बिल्कुल तैयार होकर आगे चल पड़े, मन्दाकिनी के किनारे-किनारे श्रीकेदारनाथ की राह पर।

卐

केदारनाथ की राह में

मन्दाकिनी के साथ-साथ

[१]

रुद्रप्रयाग से केदारनाथ सिर्फ ४८ मील है। भीरीचट्टी तक मन्दाकिनी के किनारे-किनारे जाना पड़ता है। उसके बाद गुप्त-काशी की कठिन चढ़ाई मिलती है। फिर तो मन्दाकिनी के दर्शन दूर से ही होते हैं। रामपुर के बाद, प्रधान पथ से कुछ दूर हटकर जाने पर, त्रियुगीनारायण के दर्शन होते हैं। वहाँ से लौटकर आने पर गौरीकुंड में फिर मन्दाकिनी मिल जाती है। उसके बाद केदारनाथ सिर्फ बारह मील दूर रह जाता है और मन्दाकिनी वहाँ तक यात्री का साथ देती है। उसका उद्गम-स्थान भी वहीं कहीं आसपास में है। बर्फ के पास पहुँचने पर तो उसका जल कुछ गन्दा-सा मालूम होता है; किन्तु रुद्रप्रयाग में उसकी छटा निराली है—इतनी स्वच्छ है उसकी धारा कि देखकर चित्त प्रसन्न हो जाता है। उसके साथ चलने में एक अपूर्व आनन्द आता है।

रुद्रप्रयाग में अलकनन्दा से हमारा साथ छूट गया और आगे केदारनाथ की राह में बस मन्दाकिनी ही अपनी संगिनी

रही। जिस समय हमलोग रुद्रप्रयाग से चले उस समय दिन के साढ़े चार बजे थे; किन्तु आकाश में बादल घिरे हुए थे, अतः यात्रा में आनन्द ही आया। बिल्कुल 'किये जात छाया जलद'-सी बात थी; लेकिन केदारनाथ के पथ का प्रथम परिचय अच्छे

पहाड़ी कुली (गौरी-कुंड के पास)

ढंग का न हुआ। रास्ता काफी ऊबड़-खाबड़ था। जगह-जगह चढ़ाव-उतार था—कहीं-कहीं तो पथ बहुत ही संकीर्ण !

कुछ ही दूर आगे बढ़ने पर देखा, हमारे स्टेशन-मास्टर 'झाजी' एक जगह बैठे हुए हाथ धो रहे हैं, चेहरा उतरा हुआ है। दरियाफ्त करने पर मालूम हुआ कि उन्हें आँव पड़ गया है। सुनकर चिन्ता हुई। झाजी उन युवक-हृदय वृद्धों में हैं, जो

फुर्ती में जवानों के भी कान काटते हैं। दुबला-पतला शरीर लिये इतनी तेजी से चलते हैं कि उनके साथ-साथ कदम मिलाकर चलना कठिन हो जाता है। उनके साथ उनका नौकर 'बलदेव' भी गाँजे के दम पर खूब तेजी से चलता था।

आँव पड़ने के कारण वे बहुत ही सुस्त पड़ गये और उन्हें झम्पान की फिक्र पड़ी। किन्तु बीच राह में सवारी कहाँ मिले! आज उनकी बीमारी शुरू ही हुई थी, इसीसे हिम्मत किये किसी-किसी कदर चलते रहे। किन्तु दो दिन बाद 'फाटा-चट्टी' पहुँचने पर उन्हें झम्पान करना ही पड़ा।

रुद्र-प्रयाग से पौने पाँच मील पर 'छतोली' मिली। अच्छी छोटी-सी चट्टी है। पुल के इस पार हमलोगों का जहाँ पड़ाव पड़ा था वहाँ पास ही सुन्दर पानी का झरना था, जिससे जल की काफी सुविधा थी। यहाँ बनियों की दूकानों पर चटाइयाँ भी बिछी मिलीं, जो केदारनाथ के पथ की विशेषता-सी विदित हुई। बदरीनारायण की राह में यह आराम नहीं है।

उस रात एक बड़ी ही मजेदार घटना हुई। एक अपरिचित व्यक्ति हमलोगों के ही पड़ाव पर आकर टिक रहा, और लाख कहने पर भी उसने वहाँ से हटने का नाम न लिया। अन्त में हमारे गूँगा-बहादुर ने उसे हटाने का बीड़ा उठाया। 'आँऊँ-आँऊँ गों-गों' करता हुआ वह इस प्रकार पिल पड़ा कि उस बेचारे को वहाँ से डेरा-डंडा उठाना ही पड़ा।

फिर तो हमारे गूँगे ने वह डींग हाँकी कि देखते ही बन पड़ा। उसने अपनी भावभंगी द्वारा यही व्यक्त किया कि वह व्यक्ति चोर था—गिरहकट था, और यदि हमारा गूँगा उसे न

हटाता तो हमलोगों की झपकी लगते ही वह कोई सामान उठाकर नौ-दो-ग्यारह हो जाता।

गूँगे की जिमनास्टिक देखकर हमलोगों को बहुत हँसी आई; किन्तु उस अजनबी के वहाँ से टल जाने पर संतोष अवश्य हुआ। वास्तव में यात्रा में अपरिचितों से सावधान ही रहना चाहिये।

भोजन के बाद कुछ देर तक इधर-उधर की बातें कीं। रात अँधेरी थी; फिर भी सामने मन्दाकिनी की लहरें बड़ी ही भली मालूम हो रही थीं।

[२]

२३ तारीख को तड़के चार बजे चला। रास्ता बहुत अच्छा मिला। चढ़ाई बहुत ही कम थी—नाममात्र की। तिल· वड़ा (५–३), मठ (६–१), रामपुर (७–२) इत्यादि चट्टियाँ रास्ते में मिलीं। इनमें पहली दो तो बहुत ही छोटी-छोटी हैं; किन्तु रामपुर-चट्टी काफी सुन्दर और बड़ी-सी है। हमारा प्रोग्राम आगे चलकर 'अगस्त मुनि' पर टिकने का था, अतः आगे बढ़ते चले। रास्ते में भिखमंगे बहुत मिले। उनमें बहुत-से तो ढोल बजा-बजाकर भीख माँगते थे, और यह सिल-सिला यात्रा के प्रारम्भ से ही जारी हो गया था। बीच में मन्दा-किनी के ऊपर कई जगह रस्सी के झूले देखने में आये, जिन पर वहाँ के निवासी इस पार से उस पार आते-जाते थे; किन्तु अपने राम को उनपर चलने का मौका नहीं मिला। देखते ही डर मालूम होता था, और अपना तो अनुमान है कि उन पर चढ़ते ही सर में चक्कर आ जाता और नीचे जल में जरूर गिर पड़ते।

रामपुर से आगे 'सोरगढ़' का डाक-बँगला मिला—९-४ पर। उसके बाद 'अगस्त मुनि' मिला—रुद्रप्रयाग से पूरे ग्यारह मील पर। अच्छी सुहावनी-सी बस्ती प्रतीत होती थी। शुरू में ही 'बाबा काली कमलीवाले' की धर्मशाला मिली। वहीं अगस्त मुनि का छोटा-सा मन्दिर भी था। मैंने उसी धर्मशाला में

अगस्त मुनि (केदारनाथ की राह में)—यहीं इन दिनों केदारनाथ के यात्रियों को ले जानेवाला हवाई-जहाज उतरता है।

टिकने का निश्चय किया। काकाजी मेरे साथ थे। दरी वगैरह मँगवा कर बिछवाई गई, तबतक केदारनाथ का पंडा पहुँच गया। उसने वहाँ पानी की किल्लत बतलाई, और हमें एक दूसरे ही मकान पर ले गया—बस्ती के दूसरे छोर पर। यह दूसरा स्थान

वास्तव में बहुत ही सुन्दर और रमणीक था—सामने बिल्कुल हरा-भरा मैदान और उसके बाद ही मन्दाकिनी।

इस ओर का दृश्य मुझे उधर से अधिक मनोहर मालूम हुआ। हरद्वार से लेकर रुद्रप्रयाग तक जो दृश्य देखे थे, वे दूसरे ही ढंग के थे। रुद्रप्रयाग के बाद इधर के जो दृश्य देखने में आये, वे बिल्कुल भिन्न ही प्रकृति के। उधर हम पहाड़ों द्वारा कुछ घिरे हुए-से थे, इधर आसपास छोटी-छोटी पहाड़ियाँ होने के कारण हम कुछ खुले स्थान का अनुभव करते थे। जगह-जगह छोटे-छोटे मैदान और हरी-भरी दूब भी दिखलाई देती थी। इसी से मुझे इधर के दृश्य उधर से अच्छे लगे।

थोड़ी देर आराम करने के बाद मन्दाकिनी में नहाने गया। सामने धारा बहुत ही तेज थी। शिलाखंड पर बैठकर लहरों से पैर दबवाये, फिर लोटे से स्नान किया। यदि थोड़ी दूर और नीचे की ओर हटकर स्नान करने जाता, तो पानी में उतरकर स्नान कर सकता, जैसा और लोगों ने किया; किन्तु मुझे उस स्थान का पता ही न था और उसके अभाव में लोटे से स्नान करके ही मैंने एक अनिर्वचनीय सन्तोष का अनुभव किया। 'मन्दाकिनी पुनीत नहाये'—'मज्जन कियउ पन्थस्रम गयऊ'।

ऊपर आया तो रसोई तैयार थी। खाना खाया, फिर चिट्ठियाँ पोस्ट करने चला गया। यहाँ एक दूकान में डाकखाना था। पोस्टमास्टर और दूकानदार दोनों एक ही थे! वहीं से सत्रह तारीख का 'विश्वमित्र' लाया। बहुत दिनों बाद बाहरी दुनिया के समाचार पढ़े।

फिर कुछ आराम करने की इच्छा हुई; किन्तु मक्खियों का

उपद्रव यहाँ भी काफी दिखलाई दिया ! मैं चुपचाप चादर तान-कर लेट रहा। कुछ नींद-सी आ गई। उठने पर इधर-उधर कुछ खत लिखे।

इसके बाद चलने की तैयारी होने लगी। तबतक एकाएक घनघोर घटा उमड़ आई। थोड़ा पानी भी बरसा, पर टिका नहीं। उससे चारों ओर ठंढक काफी हो गई। थोड़ी देर बाद हमलोग वहाँ से चल पड़े।

ढाई मील पर 'सौड़ी' चट्टी थी। बीच में १२-५ पर 'बेदू-बगड़'। एक जगह एक भयंकर दुर्घटना से जान बची। हम-लोग एक हल्की-सी चढ़ाई पर चढ़ते जा रहे थे—काकाजी और मैं। उधर से देखा, एक मनुष्य दो बैलों को पकड़े जबरदस्ती नीचे लिये जा रहा है। थोड़ी देर बाद देखा, वे बैल बेतहाशा भगे आ रहे हैं। संकीर्ण पर्वत-पथ—अब किधर जायँ ! एक ओर खाई थी, दूसरी ओर पहाड़; किन्तु आत्मरक्षा की प्रवृत्ति भी जबर-दस्त होती है—झटपट एक ओर पास ही के शिलाखंड पर चढ़ गये।

सौड़ी से आगे सिर्फ डेढ़ मील पर 'चन्द्रापुरी' मिली। दूर से ही उसकी छटा देखकर चित्त प्रसन्न हो गया। बड़ी ही रमणीक पुरी प्रतीत हुई। 'चन्द्रा' नदी पर लकड़ी का पुल था। इस पार आने पर मैंने देखा—डिप्टीसाहब चले आ रहे हैं। लकड़ी का पुल देखकर उनके होश उड़ गये। प्राणों को समेट कर बिल्कुल सिकुड़े हुए-से थर-थर करते हुए वे किसी-किसी प्रकार इस ओर आये। किनारे पहुँच जाने पर मानों जान-में-जान आई।

पुल से थोड़ी दूर और आगे चलने पर पुरी मिली—अच्छी, सुन्दर-सी। प्रायः प्रत्येक चीज की दूकान थी। हलवाई की दूकान सामने थी। सामने ही पानी की छोटी-सी नहर बह रही थी, जो 'चन्द्रा' नदी से लाई गई थी। जहाँ हमलोगों के ठहरने का प्रबन्ध था वहाँ एक काफी बड़ी-सी दूकान थी, जिसमें हर प्रकार के सामान बिक रहे थे। कोठी बड़ी ही सुन्दर थी—तीन मञ्जिल की। तीसरी मञ्जिल पर हमलोगों के टिकने का इन्तजाम था। मैं कुछ देर नीचे ही बेंच पर बैठा इधर-उधर की बातें करता रहा। फिर ऊपर बरामदे में बैठकर पुरी की शोभा देखने लगा।

सन्ध्या हो चली थी—फिर भी सुदूर हिमालय पर सूरज की हल्की-हल्की-सी किरणें पड़ रही थीं। उधर सामने मन्दाकिनी की निर्मल धारा वेग-पूर्वक अपने लक्ष्य की ओर प्रधावित हो रही थी। सचमुच एक अनोखा दृश्य था। मैं तो चन्द्रापुरी की सुषमा पर बिल्कुल मुग्ध हो गया; गुनगुनाने लगा—

उधर से मन्दाकिनी है निर्मल, इधर से चन्द्रा चमक रही है।
बहार लहरों की है निराली, गरज रही है, तमक रही है॥
खड़े हुए आसपास गिरिवर, तरंग का रंग देखते हैं।
हवा है वृक्षों से खेल करती, ठुमुक रही है, ठमक रही है॥
उधर है केदार का नजारा, निराला है रंग हिमशिखर का।
जिसे आ सूरज की दिव्य किरणें, सुनहली चादर से ढँक रही हैं॥
बरफ की लहरें उधर से आकर, लुटा रहीं कोष मोतियों का।
नदी ये निर्मल परम मनोहर, चमक रही हैं, झमक रही हैं॥

मैं उस दृश्य को देखकर आत्म-विभोर-सा हो उठा। तुरत ही खयाल आया कि बस यही उसका अन्तिम दर्शन है; फिर तो कल तड़के ही उठकर चल देना है। तब अन्दर से एक आह-सी निकली—

अजीब कुछ बेबसी है 'रञ्जन', न आँख भरकर किसीको देखा।
विराम ले लेखनी, न कुछ कह, किधर भला यों बहक रही है॥

थोड़ी देर बाद नीचे सायंकृत्य के लिये गया। मेहतर ने एक आराम की जगह बतला दी। ठीक नीचे मन्दाकिनी बह रही थी—तेजी के साथ—

पहाड़ों पै सर को पटकती हुई,
कहाँ फिर रही हो भटकती हुई?
अरी बावरी किसने जादू किया?
चली जा रही है झटकती हुई!

नहर पर मुँह-हाथ धोये। फिर ऊपर आकर दिनचर्या लिखी; खाने में देर हो गई। रात में बदरीनाथवाले पंडाजी आये, जिन्हें विनोद-वश मैं 'सेठपंडा' कहा करता था। उन्होंने जिक्र किया कि ऊपर से किस प्रकार खिसकते हुए पत्थर से वे बाल-बाल बचे। मैंने भी अपने बचने का हाल कह सुनाया। सच-मुच सब भगवान् की ही कृपा है, नहीं तो जिस रास्ते हमलोग जा रहे हैं उसमें तो एक ही मिनट में प्राणों का हिसाब लग जाय। थोड़ा-सा पैर फिसला और साफ नीचे! पता भी न लगे कि क्या हुआ! ऊपर से पत्थर खिसकें और सर के टुकड़े हो जायँ। किन्तु सब कुछ प्रभु की ही कृपा पर अवलम्बित है। उसने जैसे अब तक निबाहा है, आगे भी निबाह देगा।

[३]

चौबीस की सुबह का दृश्य अनोखा था। चन्द्रापुरी से चलते ही सामने हिमालय दिखलाई दिया। किन्तु उस समय भी उस पर अन्धकार का आवरण पड़ा हुआ था! थोड़ी देर बाद कुछ सफाई-सी हुई। फिर सूरज की चमकती हुई किरणें उच्चतम शृंग पर मुस्करा उठीं, मानों दर्पण में अपना मुँह देख रही हों। धीरे-धीरे ज्योति बढ़ती गई। अनूठा नैसर्गिक दृश्य था। जी चाहता था कि देखता ही रहूँ—

ऊँची हिम की चोटी पर
थी अन्धकार की छाया।
काली-सी दीख रही थी
उसकी वह उज्ज्वल काया॥
तम का घूँघट सरका कर
मुसकाती ऊषा आई।
तन पुलक उठा हिमगिरि का
मुख पर नव लाली छाई॥
हँसती-हँसती फिर आईं
रवि की किरणें मस्तानी।
चाँदी के ऊपर मानों
फेरा सोने का पानी॥
हिम के उज्ज्वल दर्पण में
रवि ने अपना मुख देखा।

खिंच गई उधर शिखरों पर
हँसती किरणों की रेखा ॥
यों हुआ दृश्य-परिवर्त्तन
जगमग उज्ज्वलता छाई ।
प्रकृति-दुलहिन ने अपनी
सुन्दर शोभा दिखलाई ॥

उस दिव्य शोभा को देखता हुआ मैं आगे की ओर बढ़ता गया । पास ही मन्दाकिनी बह रही थी । सड़क अच्छी थी—न अधिक चढ़ाई थी, न अधिक उतराई । सुबह के वक्त चलना और भी अच्छा मालूम होता था ।

साढ़े तीन मील पर 'भीरी'-चट्टी मिली । एक पुस्तक में पढ़ रक्खा था कि वहाँ भीमसेन का मन्दिर है । किन्तु उसे देखने का अवसर न मिला । वहीं मन्दाकिनी पर लोहे का पुल था । उसे पार कर दूसरी ओर आया । वहाँ से साढ़े तीन मील पर 'कुंड'-चट्टी थी, जहाँ आज सबेरे ठहरने का प्रोग्राम था ; पंडित रामजनम तिवारी हमें पाँचवें मील पर मिले । नया जूता पहना था ; मचर-मचर करते हुए तेजी से चल रहे थे । वे हमलोगों से पहले ही कुंड-चट्टी पहुँच गये थे और चट्टी की गन्दगी पर नाक सिकोड़ रहे थे ।

कुंड-चट्टी पर पहुँचकर मैंने मेवा खाया, दूध पिया । तबतक पंडित जनकलाल झा स्टेशन-मास्टर पहुँच गये । वकील साहब मेरे साथ ही थे । सबकी सलाह हुई आगे चलने की । सामने ही कठिन चढ़ाई थी—पूरे दो मील की, तिस पर धूप उग चुकी

थी। मुझे कुछ हिचक मालूम हुई; किन्तु बहुमत के आगे झुकना ही पड़ा।

सब-के-सब आगे चल पड़े। किन्तु मैंने सपने में भी खयाल नहीं किया था कि चढ़ाई इतनी कठिन होगी, तिसपर सूरज की कड़ी धूप के कारण और भी आफत थी। उसपर तुर्रा यह कि दूर-दूर तक छाया का नाम नहीं। बिल्कुल मातामही का ध्यान आ गया! किन्तु सबसे अधिक चिन्ता हुई उन गरीब नौकरों और नौकरानियों की, जो बाद को जलती हुई धूप में आयेंगे। उस समय इस चढ़ाई पर उनकी कैसी दुर्दशा होगी! किन्तु किया क्या जाय। उन दोनों ब्राह्मणों को कोसता हुआ आगे बढ़ा—

रामजनम और जनकलाल ने हम सबको बहकाया।
पीठ ठोक कर, हिम्मत देकर, आगे हमें बढ़ाया।
धूप कड़ी है, तो क्या होगा? मोम न है यह काया।
कठिन चढ़ाई है, इससे क्या? साहस करो सवाया।
धन्य-धन्य है इन दोनों ब्राह्मण-श्रेष्ठों की माया!

इस प्रकार हँसता-खेलता, परेशान होता, आगे की ओर बढ़ता गया। पीछे से झटकता हुआ केदारनाथ का पंडा पहुँचा। बोला—"बाबूजी, यह क्या गजब किया तुमने? आज तो इस धूप में सभी बेमौत मरे।" मैंने कहा—"क्या करूँ, इनकी जिद के कारण आगे बढ़ना पड़ा।" उसने कहा—"फिर भी ठहर गये होते, अब जरा उन गरीबों का तो खयाल करो, धूप में तड़प रहे हैं।"

किन्तु अब गरीबों का खयाल करने से क्या! रास्ता तो तय

करना ही था। आखिर किसी-किसी तरह गुप्तकाशी पहुँच ही गया। पंडे ने ठहरने का सुन्दर प्रबन्ध किया था। जगह बड़े आराम की थी। कुछ देर बाद और लोग भी आ गये। फिर
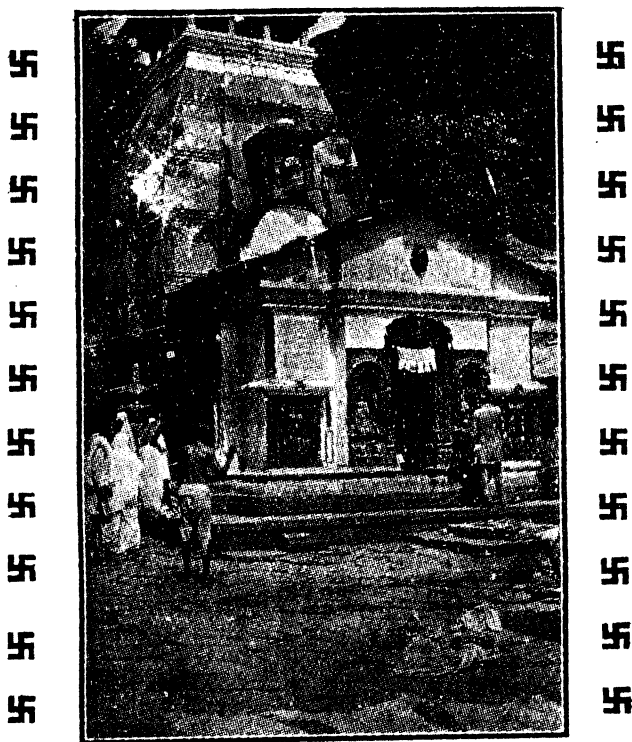
गुप्त-काशी का मंदिर

सलाह हुई कि आज ही सारे तीर्थकृत्य समाप्त कर दिये जायँ। बस, तैयारी शुरू हो गई। पूजा के सामान खरीदे गये—फी

आदमी एक थाली, सवा पाव चावल, अँगौछा, नारियल का गोला और उसमें गुप्तदान। बहुत देर हो गई।

थोड़ी ही दूर पर महादेव का मन्दिर था। वहाँ मन्दिर के अहाते में एक पक्का कुंड था, जिसके दो कोनों में एक ओर हाथी का सुंड बना था और दूसरी ओर गोमुख। दोनों ही से अलग-अलग धाराएँ आ रही थीं। लोगों ने कहा कि एक से गंगा की और दूसरे से यमुना की धारा आती है। दोनों के ऊपर घाट पर दो ब्राह्मण बैठे हुए थे। उन्होंने स्नान-संकल्प कराया। फिर मैंने दोनों धाराओं के नीचे स्नान किया। कुंड नीचे से भी पक्का था। पानी बहुत नहीं था।

स्नान के बाद केदारनाथ के पंडों ने दान कराया। फिर एक मन्दिर में शुद्ध शिवलिंग तथा दूसरे में अर्द्धनारी-नटेश्वर के दर्शन किये। बाहर आने पर एक नवयुवक मिला, जिसने मुझे कुछ देर तक देखकर अँगरेजी में प्रश्न किया—"क्या आप काशी-हिन्दू-विश्व-विद्यालय में प्रोफेसर हैं?" मुझे आश्चर्य हुआ। कहा—"हाँ।" उसने फिर पूछा—"क्या आपका नाम प्रोफेसर मनोरञ्जनप्रसाद सिनहा है?" मेरे आश्चर्य की मात्रा और भी बढ़ गई। मैंने फिर सर झुकाकर कहा—"हाँ।" उसने कहा—"मैं हिन्दू-विश्व-विद्यालय में आपका विद्यार्थी रह चुका हूँ। मेरा नाम है महादेवप्रसाद।"

मेरे आनन्द की सीमा न रही। इस सुदूर पर्वत-प्रान्त में अपना विद्यार्थी पाकर किस अध्यापक का चित्त प्रसन्न न हो उठेगा? मैंने उससे बातें कीं। मालूम हुआ कि इन दिनों वह यहाँ पंडागिरी कर रहा है! यदि ऐसे पंडे हों तो अवश्य ही

पंडा-वृत्ति का भविष्य उज्ज्वल है। काफी देर हो रही थी, अतः अधिक बातें करने का अवसर न था। मैंने उसे अपने स्थान पर बुलाया।

खाते-पीते तीन बज गये। उसके बाद मैं सो रहा। उधर आसमान में मेघ घिर आये। बिजली चमकी, बादल गरजे, पानी बरसने लगा जोर-शोर से। पूरी बरसात आ गई। मुझसे मिलने मेरा विद्यार्थी आया था; किन्तु मैं सो रहा था, लोगों ने जगाया नहीं! उससे फिर न मिल सकने का दुःख रह ही गया।

शाम को कहीं जा न सका। जोरों की ठंढ पड़ने लगी। जाड़े के कपड़े निकाल लिये। रात-भर ठंढ काफी रही। यदि हमलोग दिन में 'कुंड' ठहर गये होते, तो एक दिन तो नष्ट होता ही। शायद वर्षा के कारण हम ऊपर भी न आ सकते। कष्ट भी कुछ कम न होता। किन्तु ईश्वर को यह मंजूर न था कि हमलोगों-जैसे धर्मात्मा व्यक्ति उतना अधिक कष्ट उठावें! इसीसे उसने हमें ठेलकर ऊपर भेज दिया। सचमुच वह जो कुछ भी करता है, भला ही करता है।

[४]

पचीस को सबेरे साढ़े तीन बजे उठा, तो देखा कि आसमान बिल्कुल साफ हो गया है। जल्दी-जल्दी प्रातःकृत्य से निवृत्त हो तैयार हो गया। आज पूरी सर्दी थी, अतः गर्म कपड़े पहन लिये—ऊनी मोजा, चूड़ीदार पाजामा, गर्म कोट; उसपर मफलर लपेट लिया। सर पर पहन ली ऊनी टोपी वानरमुखी—अपने प्रिय मित्र विद्याभूषण की, जो उस समय

दिल्ली के डिस्ट्रिक्ट-जेल में शाही कैदी था। किस रम्य प्रदेश में हम विहार कर रहे हैं और वह दिल्ली की सड़ी गर्मी में तपता होगा। ईश्वरी माया विलक्षण है!

गुप्तकाशी से बाहर निकलने पर दो रास्ते मिले—एक पोस्ट-आफिस की ओर जा रहा था, दूसरा केदारनाथ की ओर। गूँगा वहीं भटक रहा था। उसे मैंने अपने साथ ले लिया। फिर कहाँ उससे साथ छूट गया—नहीं कह सकता।

थोड़ी ही दूर चलने पर क्रान्तिकारी नजरबन्द की वह टोपी मुझे बेतरह दुःख देने लगी। सामने बलदेव दिखलाई दिया; सड़क पर ही खड़ा हुआ था। मालूम हुआ, झाजी पास ही कहीं लोटा लेकर झरने के पास तपस्या कर रहे हैं! मैंने उसे अपनी टोपी देनी चाही, जिसे वह अपनी गठरी के साथ ले चलता; किन्तु उसका सामान नपा-तुला था। टोपी ले लेने से उसका 'बैलेंस' खराब हो जाता। अतः उसने साफ 'नाहीं' कर दी। उसी समय मुझे एक युक्ति सूझ गई। मैंने उसके अन्दर से मफलर घुसाकर अपने कन्धे से लटका लिया और फिर आगे बढ़ा।

गुप्तकाशी से एक मील पर 'नाला'-चट्टी—दूसरे पर 'भेत'-चट्टी मिली। मन्दिरों की भरमार थी; किन्तु मैं एक में भी दर्शन न कर सका। लगभग चार मील तक उतार-ही-उतार मिलता गया। किन्तु रास्ता सुहावना था। आसपास चारों ओर सुन्दर-सुन्दर फूल खिले हुए थे। 'ब्यूंगतल्ला' पर उतराई खतम हुई। उधर से एक झरना आ रहा था, जिस पर एक पुल बना हुआ था। वहीं नीचे लकड़ी के सुन्दर बर्त्तन बन रहे

थे। फिर चढ़ाई मिली—पौने दो मील की—महिष-मर्दिनी तक। वहीं देवीजी का मन्दिर था और पास ही झूला लगा हुआ था। किन्तु मुझे तो मञ्जिल तय करने की धुन थी। न देवी के दर्शन किये, न झूले पर चढ़ा। फिर सवा मील उतार पर 'फाटा'-चट्टी मिली। बस्ती काफी अच्छी, बड़ी-सी, थी। झरने तीन-तीन थे। आराम के सामान भी मौजूद थे।

मैं जिस दूकानदार की चट्टी पर ठहरा, वह नवयुवक था। नाम था रविदत्त। बातों के सिलसिले में उसे यह मालूम हुआ कि मैं श्रीनरदेव शास्त्री का परिचित हूँ और हिन्दू-विश्व-विद्यालय (काशी) में प्रोफेसर। फिर तो उसने मेरी बड़ी खातिर की—शुद्ध राष्ट्रीय विचार से। कहा भी उसने कि "बाबूजी, राष्ट्रीय विचारवालों के लिये मेरे हृदय में जो भाव है वह अफसरों और हाकिमों के लिये नहीं।" मैं गौरवान्वित हो उठा। उससे बहुत देर तक बातें कीं।

चलते समय लोगों की सलाह हुई कि जरूरी सामान ले लिये जायँ, बाकी यहीं छोड़ दिये जायँ। रविदत्त ने मेरे सामान तो यों ही रख लिये, औरों से दो-दो आने फी सामान चार्ज किये। मुझपर बड़ी कृपा थी उसकी। उसने मुझे 'उत्तराखंड-माहात्म्य' भी छः आने में दिया। अपना कमीशन भी न लिया।

साढ़े तीन बजे दिन को वहाँ से चल पड़ा। इधर की राह और भी अच्छी मिली। सुन्दर-सुन्दर फूलों को देखकर चित्त प्रफुल्ल हो जाता था—

सेवती विमल हँसती थी
अपने तरु की डाली पर।

श्रद्धा मन में हो आती थी
वन के उस माली पर ॥
निर्जन पर्वत-प्रान्तर में
उसने क्या साज सजायें !
जिनकी सुन्दर शोभा लख
सुरपुर के विभव लजाये ॥

उधर बीच-बीच में सुन्दर फल भी खाने को मिले। एक पीला-पीला छोटा-सा फल था, जिसे लोग 'गौरीफल' कहते थे। खाने में वह बड़ा ही स्वादिष्ट था। काले-काले गुच्छ-के-गुच्छ 'किरमोरा' लटके हुए थे, जिनमें एक अजीब मिठास और तुर्शी थी। रास्ते से कुछ हटकर 'काफल' के फल भी दिखलाई दिये। उधर ऊपर 'देवदारु' का पेड़ सर उठाये हँसता था। मेरे मन में आया—

काफल का फल कैसा है
गौरीफल कितना सुन्दर !
कैसी रस-धार भरी है
इस किरमोरा के अन्दर ॥
वह देवदारु हँसता है
कैसे निज शीश उठाकर।
सचमुच सब सच कहते हैं
वैकुंठ यही है भू पर ॥

'ओक' आदि और भी कितने ही सुन्दर वृक्ष मिले। सामने

हिमालय था। उधर झरने झलक रहे थे। मुझे स्वर्गीय मन्नन द्विवेदीजी की कविता याद आ गई—

'हिमालय है सर उठाये ऊपर, बगल में झरना झलक रहा है।
कहीं शरद के हैं मेघ छाये, कहीं फटिक-जल छलक रहा है॥'

मैं हिमालय की शोभा देखता आगे बढ़ा। "आमेखलं सञ्चरतां घनानां" की शोभा भी विचित्र ही थी। थोड़ी ही देर में देखा, हिमगिरि का शिखर बादलों से ढँककर आसमान से मिल गया। ऐसा जान पड़ता था, मानों मेघों का पर्दा लटका कर ऊपर उच्च शिखर पर सुर-सुन्दरियाँ विहार कर रही हों!

दो-तीन पहाड़ पार कर मैं रामपुर पहुँच गया। मेरे चश्मे के फ्रेम की कील निकल गई थी। रामपुर में कोशिश की कि कोई बना दे; किन्तु यहाँ इतनी बारीकी का काम कौन करे। चुपचाप चश्मे को अटैची-केस में बन्द कर देना पड़ा। शायद प्रकृति को मेरी आँखों का वह पर्दा पसन्द न आया। शुक्र इतनी ही है कि चश्मे के विना मैं बिल्कुल अन्धा नहीं हो जाता। इसी से उतनी परेशानी न मालूम हुई।

खाने-पीने के बाद तिवारीजी इत्यादि से बातें कीं। दिनचर्या लिखी। उत्तराखंड-माहात्म्य पढ़ा। सोते समय बिछावन के पास से ही बिच्छू का एक बच्चा निकला; किन्तु वह तत्क्षण मार डाला गया। मैं प्रभु को धन्यवाद देकर निश्चिन्त मन से सो रहा।

दूसरे दिन त्रियुगीनारायण की यात्रा थी।

卐

त्रियुगीनारायण

गौरीकुंड और रामबाड़ा

[१]

गंगोत्री-जमुनोत्री होकर केदारनाथ-बदरीनाथ जानेवालों को त्रियुगीनारायण होकर जाना पड़ता है। किन्तु हरद्वार से जो लोग केदारनाथ जाते हैं, उन्हें प्रधान पथ छोड़कर लगभग पाँच मील का चक्कर लगाना पड़ता है। रास्ता कुछ ऊबड़-खाबड़ और चढ़ाई का है, अतः बहुत-से लोग त्रियुगीनारायण जाते ही नहीं। किन्तु मेरी बड़ी ही इच्छा थी उस स्थान के दर्शन करने की। इस केदारखंड में नारायण का मंदिर वहीं है।

"अथान्यत्तु प्रवक्ष्यामि क्षेत्राणां क्षेत्रमुत्तमम्।
केदारमण्डले एव यत्र गत्वा हरिर्भवेत्॥"

'उसकी यात्रा करने से मनुष्य साक्षात् हरिरूप हो जाता है।' बड़ा ही पवित्र स्थान है वह। लोग कहते हैं कि वहीं शिव-पार्वती का विवाह हुआ था और वहाँ तीन युग की धूनी जल रही है। जब से शिव का विवाह हुआ तब से वह धूनी बुझने नहीं पाई है। शास्त्रों में भी लिखा हुआ है —

"विवाहस्थानमेतद्धि गौरीशङ्करयोः शुभम् ।
तत आरभ्य वसते नित्यमत्र धनञ्जयः ॥"

इन दिनों भी टिहरी-राज्य को ओर से उसमें बराबर लकड़ी देते रहने का प्रबन्ध है और जाड़े के दिनों में भी रियासत की ओर से कुछ आदमी उस धूनी को प्रज्वलित रखने के लिये नियुक्त रहते हैं । वैसे दिव्य स्थान के दर्शन किये विना ही आगे चला जाना मुझे जँचा नहीं; कुछ लोगों के सिवा हमारे दल के और लोगों की भी यही राय हुई । अतः छब्बीस मई को सवेरे हम-लोग रामपुर से त्रियुगीनारायण के दर्शन का ही विचार कर आगे चल पड़े ।

सुबह का सुहावना समय, रास्ता बिल्कुल सीधा । त्रियुगी-नारायण के पथ तक पहुँचने में कोई देर न लगी । रामपुर से पूरे डेढ़ मील पर रास्ता एक ओर ऊपर को चढ़ता नजर आया । बहुत-से लोग वहाँ पर जमा भी थे । मैंने अनुमान किया कि शायद त्रियुगीनारायण की राह वही है; किन्तु वहाँ पथ-सूचक न कोई पत्थर था न खम्भा । मैं त्रियुगीनारायण के प्रति सरकार का उपेक्षा-भाव देखकर दुःखित हुआ । देखा, कुछ लोग उसी रास्ते से ऊपर की ओर जा रहे हैं । मैंने दरियाफ्त किया । मालूम हुआ, मेरा वह अनुमान सत्य है ; त्रियुगीनारायण का पथ वही है । मैं उसी ओर अग्रसर हुआ ।

रास्ता चढ़ाई का था—बिल्कुल ऊबड़-खाबड़ । जगह-जगह पत्थर के बड़े-बड़े ढोके पड़े हुए थे । मील-पत्थर का भी कहीं पता न था । इससे और भी कठिनाई मालूम होती थी; किन्तु सबेरे

का समय था--सारी रात आराम करने के बाद अभी ताजे-ताजे चले थे, अतः विशेष कष्ट न मालूम हुआ; पर जब थोड़ी दूर तक चढ़ाई को उस विकट राह पर चले तो मन को हिम्मत दिलाने को आवश्यकता मालूम हुई--

निकल पड़े हो अब उस पथ पर, करो न कोई चिन्ता।
विघ्नों से टुक भीत न हो, बस अपनी राह चला चल॥
कठिन मार्ग है, विकट चढ़ाई, पर परवाह न करना।
सब सकुशल तय हो जावेगा, अपनी राह चला चल॥
थक जाओ तो शिलाखंड है, उस पर कुछ सुस्ता लो।
पवन तुझे पंखा झल देगा, अपनी राह चला चल॥
कोई आगे बढ़े, किन्तु उससे कुछ डाह न करना।
पन्थ तुम्हारा सम्मुख है, बस अपनी राह चला चल॥
जो सबको बल देता है, बस वही तुझे बल देगा।
धरकर प्रभु का ध्यान हृदय में, अपनी राह चला चल॥

मैं अपनी राह चलता गया। बीच-बीच में झरने, सघन वृक्ष और रंग-बिरंगे फूल चित्त को प्रसन्न कर देते थे। डेढ़ मील शाकम्भरी देवी तक विकट चढ़ाई थी। मैंने वहाँ बैठकर कुछ देर विश्राम किया। दूकान से पेड़ा लेकर पानी पिया। फिर आगे रवाना हुआ।

लगभग एक मील तक रास्ता सोधा और उतार का मिला। दोनों ओर सघन वृक्ष थे, जिनके कारण धूप का ताप कुछ विशेष न मालूम हुआ। एक अपरिचित सुन्दर जंगली फूल बहुलता

से देखने में आया; किन्तु उसमें गन्ध नहीं थी। बीच में 'हरिदा' (घटुड़ा) नामक एक छोटी-सी नदी मिली, जिसके विषय में लिखा हुआ है—

"तत्रैव च नदी रम्या सर्वपाप-प्रशोषिणी।
दक्षिणे हरिदा नाम्ना स्नानेऽनन्तफलप्रदा।"

किन्तु राह चलते कौन उसमें स्नान करता? एक मील वा पौन मील फिर आखिरी चढ़ाई मिली; किन्तु उतनी कठिन नहीं जितनी लोग कहते थे; ख्वाहमख्वाह हौआ बनाये हुए थे। मुझे तो काफी आनन्द आया इस रास्ते में।

त्रियुगीनारायण की बस्ती (कुछ दूर से ही दिखलाई देती है)

दूर से ही त्रियुगीनारायणपुरी दिखलाई दी—बड़ी अच्छी, सुन्दर-सी, लगभग डेढ़ सौ घरों की बस्ती। उधर हिमालय
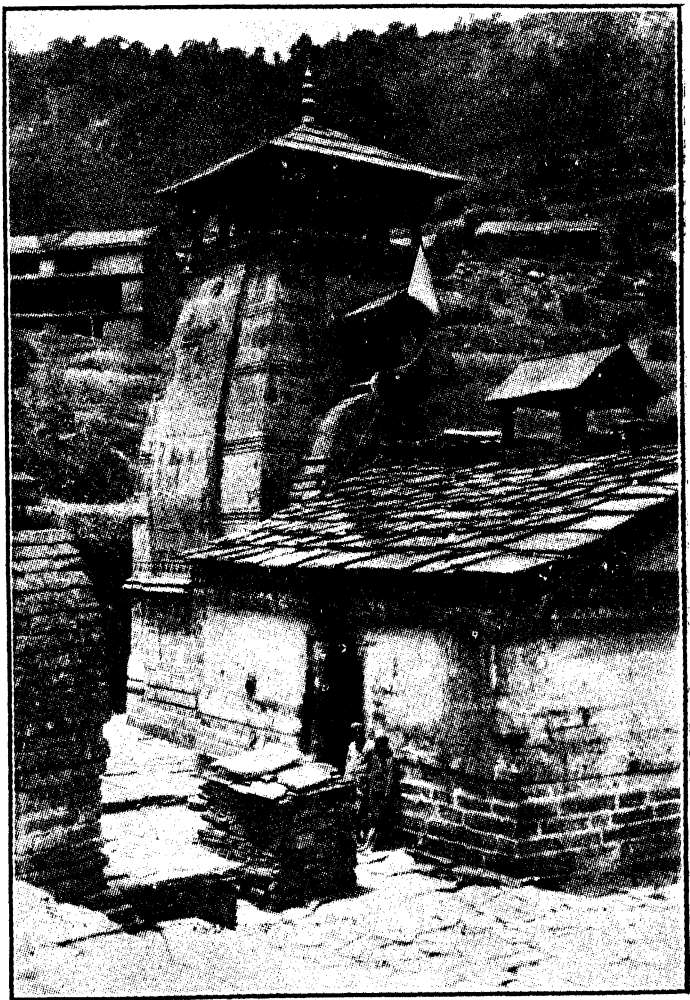
त्रियुगीनारायण का मन्दिर (पृष्ठ १०५)

अलग ही अपनी बहार दिखा रहा था। गंगोत्री से आता हुआ बर्फीला रास्ता भी दिखलाई दिया।

यथासमय त्रियुगीनारायण पहुँच गया। बीच में तारा-शंकर पंडा मिला। ठीक कुंड के सामने पूरब की ओर उसने हमें टिकाया। वहाँ से स्नान-दर्शन आदि की काफी सुविधा थी, नहीं तो बाबा काली कमलीवाले की धर्मशाला में भी मजे में ठहर सकता था।

और लोग तब तक नहीं पहुँचे थे। मैं ऊपर जाकर बैठ गया और चुपचाप मन्दिर की शोभा देखता रहा। पुरी के बीच में एक छोटा चौकोन पोखरा-सा बना हुआ है, जिसके चारों ओर पक्के घाट हैं। उसी के बीचोबीच मन्दिर है। पोखरा बिल्कुल पक्का है; किन्तु उसमें पानी नहीं है! पानी के लिये वह बना भी नहीं है, यद्यपि शक्ल उसकी बिल्कुल पोखरे-सी है। उसमें चार कुंड बने हुए हैं, जिनमें लोग स्नान करते हैं और घाट पर बैठ-कर जगह-जगह पूजा-पाठ करते हैं।

जब तक लोग नहीं पहुँचे तब तक मैं वही दृश्य देखता रहा और बीच-बीच में पुस्तक पढ़ता रहा। द्विजकुलानंद शर्मा की बनाई हुई 'त्रियुगीनारायण-स्तुति' मुझे काफी अच्छी जँची। इसमें सारी पुरी का वर्णन भी आ गया है, भिन्न-भिन्न कुंडों के नाम और महत्त्व भी दिये हुए हैं। उसकी कुछ पंक्तियाँ देखिये—

"लसत शुभ सुविशाल मन्दिर विष्णु-नगरी पावनम्।
त्रियुगिनारायण त्रिलोकीनाथ जहँ मनभावनम्॥
तीन युग की अनल ज्वाला ज्वलत नाम धनञ्जयम्।
गौरि-शम्भु-विवाह-अगनी वेद कीनो भाषणम्॥

ब्रह्मकुंड अपार महिमा पार पायो नहिं सुरम्।
स्नान-फल कामादि-नाशन दान-फल भव-मोत्तणम्॥
कुंडमधि जो नाग-दर्शन लभत ते नर धन्यकम्।
विष्णु-नाभिज धार सरसुति आचमन-फल शोभनम्॥"

मैं उपर्युक्त स्तुति पढ़ ही रहा था कि इतने में हमारे और साथी भी आ गये। मैंने उन्हें भी 'त्रियुगीनारायण-माहात्म्य' सुनाया। उसमें ब्रह्मकुंड के नाग का वर्णन सुनकर कई आदमी बेतरह डरे; किन्तु जब उन्होंने यह सुना कि 'न दंशन्ति च ते नागाः भीतिकारणमेव ते'—वे नाग डसते नहीं, सिर्फ डराते हैं," तब उनकी जान-में-जान आई। उसके बाद स्नान-पूजा आदि का विचार हुआ। रसोई बनाने का विचार बिल्कुल छोड़ ही दिया गया। नीचे अच्छी पूरियाँ तल रही थीं। वहीं खाने का निश्चय हुआ।

जब स्नान करने गया तब प्रत्येक कुंड पर एक-एक पैसा दिया, श्राद्धकर्म इत्यादि न कर सका। मन्दिर में प्रवेश करने के लिये एक पैसा प्रवेश-शुल्क देना पड़ा। दरवान ने बतलाया कि कायदा ऐसा ही है। अन्दर जाकर मूर्त्ति के दर्शन किये। बीच सभा-मंडप में वह धूनी जल रही थी, जिसके विषय में सुना था कि त्रेता-युग से बराबर जल ही रही है। मा ने हवन-सामग्री इत्यादि पहले ही से ले रक्खी थी। मैंने भी उस धूनी को जलाये रखने में थोड़ा-सा हाथ बँटा दिया और प्रसाद-रूप उसका भस्म ले लिया। वहाँ खड़े-खड़े बहुत सी बातें याद आईं—शिव-पार्वती-विवाह की। कैसे दिन रहे होंगे वे भी!

देवपूजा के बाद ऊपर आकर पेटपूजा हुई। पूरियाँ अच्छी थीं। थोड़ी देर आराम करने के बाद चलने की तैयारी हुई। वहाँ का पंडा भी अपनी बही लिये आया और उसमें हमलोगों के दस्तखत कराये। दक्षिणा उसे आशानुरूप न मिली, इससे वह बहुत असन्तुष्ट हुआ। किन्तु इसकी फिक्र कहाँ तक की जाती। हमलोग वहाँ से चल पड़े।

शाकम्भरी देवी तक वही पुराना रास्ता था। उसके बाद दूसरे रास्ते से हमलोग नीचे उतरे। पगडंडियाँ ही अधिक थीं, ३८-४ पर केदारनाथ का प्रधान पथ मिल गया। सामने ही सोनगंगा और मन्दाकिनी का संगम था, जिसे लोग सोनप्रयाग कहते हैं। मन्दाकिनी का प्रपात बड़ा ही सुन्दर था; किन्तु बर्फीला होने के कारण जल कुछ गन्दा नजर आया, सोनगंगा का जल उससे कहीं अधिक निर्मल था। पुल पार कर दूसरी ओर आया, और वहीं पहाड़ की छाया में कुछ देर विश्राम किया।

मा इत्यादि की डाँडी वहीं रक्खी हुई थी। मैंने उनसे कुछ खजूर इत्यादि माँगकर खाये। फिर नीचे सोनगंगा (त्रिविक्रमा) का निर्मल शीतल जल मँगवा कर पिया। उधर उस पार कुछ कंडीवाले गंगोत्री से लौटे हुए कुछ यात्रियों को तंग कर रहे थे। कहते थे, आगे ले ही नहीं जायँगे। बेचारी बूढ़ी स्त्रियाँ बहुत परेशान थीं। अवतारसिंह ने उनकी बहुत मदद की और बहुत धमकाने पर वे कंडीवाले उन्हें ले चले।

आगे कड़ी चढ़ाई मिली—लगभग एक मील की। बीच में मुँड़कट गणेश का स्थान मिला। यहीं से हम केदार-खंड के द्वार में प्रविष्ट हुए।

पुराणों में लिखा हुआ है कि पार्वती ने ऋतुस्नान करते समय अपनी देह के मैल से एक बालक निर्मित कर दरवाजे पर उसे पहरेदार बना बैठा दिया और आदेश दिया कि कोई भी इधर से न आने पावे। वह मातृभक्त बालक अपने स्थान पर डटा रहा। स्वयं शिव आये, पर उन्हें इजाजत न मिली। शिव इसे सहन न कर सके, और उन्होंने आवेश में बेचारे आज्ञाकारी बालक का सर काट लिया। मातृभक्ति की स्मृति के समान उस बालक की सिर-कटी मूर्त्ति अब भी वहाँ स्थित है। मुझे यह कहानी बहुत अच्छी मालूम हुई। मैंने भक्ति-भाव से उस मातृ-भक्ति की प्रतिमा को शीश झुकाया।

मुंडहीन गणईश, लीला तेरी धन्य है।
मा-हित दीन्हों शीश, कोउ न तुम सम धन्य है॥
विघ्न हरो हे नाथ, हाथ जोर विनती करूँ।
तुम्हें झुकाऊँ माथ, ध्यान तुम्हारा ही धरूँ॥

आध मील की और चढ़ाई मिली। फिर कुछ सीधा और उतार। उसके बाद चढ़ाई और फिर उतार। अधिक चढ़ाई ही इस बार मिली। गौरी-कुंड पहुँचते-पहुँचते बिल्कुल थक गया। पंडे ने वहाँ हमलोगों के लिये जगह घेर ली थी, इसलिये विशेष तकलीफ न हुई; नहीं तो आते-जाते दोनों ओर के यात्रियों के कारण जगह की बड़ी किल्लत रहती है।

गौरी-कुंड अच्छी बस्ती है। यहाँ केदारनाथ जानेवाले गरीब यात्रियों के लिये कम्बल इत्यादि भी मिल जाते हैं। इसका तीर्थ-माहात्म्य भी कम नहीं। कहते हैं कि पार्वती ने

गौरी-कुंड (तप्त कुंड) में नल द्वारा जलता हुआ पानी बड़े वेग से गिरता है। (पृष्ठ १०६)

अपना प्रथम ऋतु-स्नान यहीं किया था और उसके बाद कुमार कार्त्तिकेय का जन्म हुआ। 'यहाँ एक तप्त कुंड है, जिसमें नल द्वारा जलता हुआ पानी बड़े वेग से गिरता है। उसके अन्दर घुसकर स्नान करना आसान नहीं, फिर भी बहुत-से लोग नीचे कूदकर स्नान कर ही लेते हैं।

उसके पास ही बर्फीले जल वाली मन्दाकिनी बहती है। तप्त कुंड के पास धारा इतनी पतली है कि आदमी मजे में इस पार से उस पार जा सकता है। पहाड़ी नदी का सच्चा रूप यहीं देखने में आता है। बीच-बीच में विशाल शिलाखंड पड़े हुए हैं, जिनके साथ अनवरत संग्राम करती हुई नदी अग्रसर होती है। मन्दाकिनी का जल बिल्कुल बर्फीला, गौरीकुंड का जल बिल्कुल खौलता हुआ। सर्दी-गर्मी का यह मेल भी अजीब है।

रात में सर्दी बहुत अधिक मालूम हुई। जाड़े के सभी कपड़े पहनकर सोया।

[२]

सत्ताइस को सबेरे मुँह-अँधेरे ही उठकर प्रातःकृत्य से निवृत्त हो आया। फिर स्नानार्थ कुंड की ओर चला। यहाँ की विधि है कि—

"स्नानमादौ प्रकुर्वीत शीतकुण्डे विचक्षणः।
ततस्तप्तोदकेनैव स्नानं कुर्यात्सचैलकम्॥"

'बुद्धिमान पुरुष पहले ठंडे जल में स्नान करे। फिर गीले ही कपड़े पहनकर तप्त कुंड में स्नान करने जाय।'

मैं भी अपने को कम बुद्धिमान न समझता था और न समझता

ही हूँ! अतएव सबसे पहले शीतकुंड पर ही जाकर मैंने दक्षिणादि दान-संकल्प किया। पानी बहुत ठंढा नहीं था। वहाँ से तप्त कुंड में गया। लोटे से ही स्नान किया, इतनी हिम्मत न हुई कि अन्दर घुसकर स्नान करता। हाँ, ठीक गर्म झरने की धारा जहाँ गिरती थी वहीं से जल लेकर विधिवत शुद्ध स्नान किया। कितनों ही को देखा, झट कुंड में कूद पड़ते थे और झट निकल आते थे। इतनी फुर्ती मेरे लिये अशक्य थी, अतः मैंने लोटा-स्नान से ही सन्तोष कर लिया। बाद को सुना, मा ने अन्दर उतरकर स्नान किया था। इसमें तो उन्होंने सचमुच बाजी मार ली।

शीतकुंड पर आकर कपड़े बदले। फिर उमामहेश्वर के दर्शन करने गया। विष्णुकुंड में आचमन किया। विचित्र पीले रंग का जल था। स्वाद भी खारा था। फिर शिव-गौरी-गणेश के दर्शन किये। उसके बाद तैयार होकर यात्रा पर चल पड़ा।

इधर चलते समय देखा कि पास ही पत्थर पर जब सूरज की किरणें पड़ती थीं तब उसके कण-कण चमक उठते थे, जिससे मुझे ऐसा भान हुआ, मानों इसमें अबरक या ऐसी ही किसी चमकीली धातु का अंश हो—

जर्रे-जर्रे में इसके सोना है।
पाक इसका हर एक कोना है॥

गौरीकुंड से आगे दो मील पर चीरवासा भैरव का स्थान मिला। शास्त्रकारों ने डरा दिया था कि—
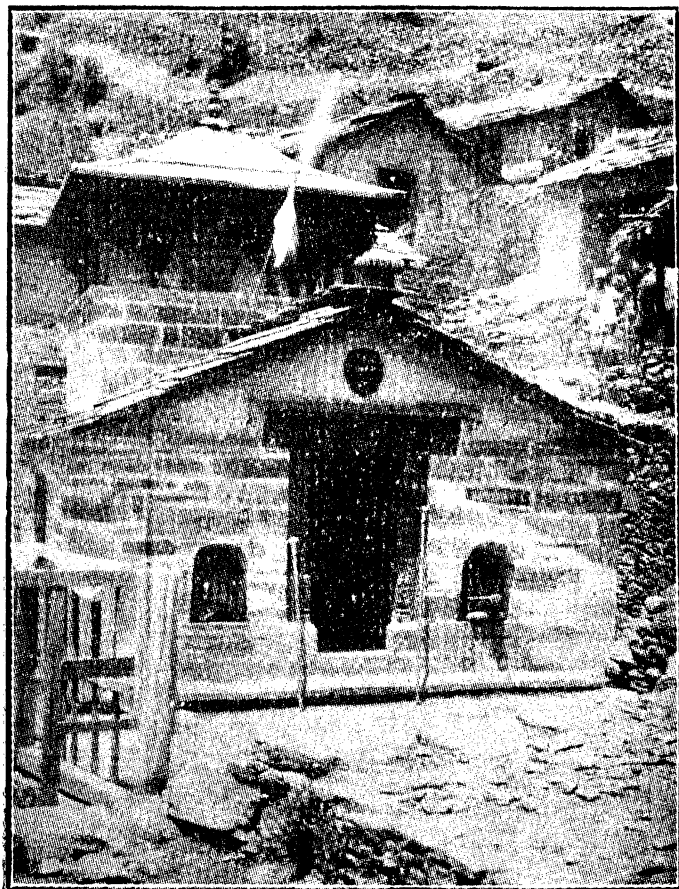
गौरीकुंड का मंदिर (पृष्ठ ११०)

"तस्मै चीरादिकं दत्वा सर्वपुण्यं लभेन्नरः।
अन्यथा तत्फलं सर्वं हरते भैरवः शिवः॥"

'चीर आदि न देने से भैरव महाराज यात्रा का समस्त फल हरण कर लेते हैं!'

देवता से अपने पुण्य को सुरक्षित रखने के लिये मुझे भी उनकी पूजा करनी ही पड़ी।

उसके बाद जंगल-चट्टी मिली। अच्छी थी छोटी-सी। ४४-४ पर भीमसेन का स्थान और ४४-६ पर रामबाड़ा मिला।

रास्ते में बहुत ही आनन्द आया। आसपास के दृश्य अत्यन्त सुन्दर थे। कई जगह तो झरनों के दृश्य इतने सुहावने थे कि देखकर मन मुग्ध हो गया। बड़ी ही ऊँचाई से धारा गिर रही थी। कई जगह साफ देखा कि पतली-पतली-सी धारा ऊपर की बर्फ से पिघलकर नीचे झरने के रूप में प्रवाहित हो रही है। मैंने उसी समय गुनगुनाना शुरू कर दिया। आशुकवि तो हो ही गया था, फिर रुकता कैसे? मस्त होकर गाने लगा—

जगह-जगह झर रहे हैं झरने, जगह-जगह स्रोत चल रहे हैं।
ये दान हिम का है मानवों को, बरफ के टुकड़े पिघल रहे हैं॥
हमारा सन्ताप ताप लखकर, द्रवित हुआ चित्त हिमशिखर का।
तरङ्गिनी के तरङ्ग मिस ये, नयन से आँसू निकल रहे हैं॥
ये दग्ध-हृदयों को शान्ति देंगे, वसुन्धरा को हरी करेंगे।
हमारे खेतों के सींचने को, ये आज नीचे को चल रहे हैं॥
पहाड़ के खंड बीच में आ, प्रवाह को रुद्ध कर रहे हैं।
मगर ये पागल गरज-गरजकर, उन्हें चरण से कुचल रहे हैं॥

नहीं रुकेंगे, नहीं झुकेंगे, अनन्त में ही विराम लेंगे।
हैं येही जीवन, इन्हीं के बल पर, चिराग घर-घर में जल रहे हैं॥

चलते-चलते इस ऊँचे पहाड़ में भी पपीहे की आवाज सुनाई दी। सुनकर एक बार चौंक उठा, वही चिरपरिचित स्वर, वही विरहिणी की करुण रागिनी, वही कोमल हृदय की कातर पुकार। अरे! तू यहाँ कहाँ से आ गई पगली? तेरा निठुर प्रियतम यहीं कहीं छिपा हुआ है क्या? कवि-हृदय ने बातें शुरू कर दीं—

चातकी इस गिरि-प्रान्तर में,
ढूँढ़ती है किसको तू आज।
अकेली इस निर्जन वन में,
'पी कहाँ' करती है किस काज॥
जगत से ले करके वैराग्य,
छोड़कर घर जन धन सारा।
इसी दुर्भेद्य विपिन के बीच,
छिपा है क्या तेरा प्यारा॥
बनाकर पर्णकुटी अभिराम,
किसी सुन्दर झरने के पास।
दूर जनपद की हलचल से,
यहीं क्या करता है वह वास॥
जहाँ हैं देवदारु के पेड़,
जहाँ हैं कुसुम खिले अभिराम।

वहीं इक शिलाखंड पर बैठ,
प्रेम से लेता प्रभु का नाम॥
मिली है उसको अविचल शांति,
करेगा यहीं गुफा में वास।
उसे फिर घर लौटाने का,
न कर री पगली, व्यर्थ प्रयास॥

किन्तु उस चिर-विरहिणी का करुण क्रन्दन जारी ही रहा। वही 'पी कहाँ' की कोमल काकली! किसी ने मानों मुझसे कहा, 'विरहिणी को समझाने का न कर रे पागल व्यर्थ प्रयास।' मैं चुपचाप आगे बढ़ता गया।

अब मैं बिल्कुल बर्फ के देश में आ गया था। ऊपर पहाड़ पर तो बर्फ थी ही। नीचे मन्दाकिनी भी जगह-जगह बर्फ से ढँकी मिली। 'रामबाड़ा'-चट्टी के ठीक पास पहुँचने पर रास्ते पर भी बर्फ मिली। उसी पर चलना था। मेरे लिये यह अनुभव बिल्कुल नया था। कैसा मालूम होगा? नीचे की बर्फ धँस तो नहीं जायगी—पिघल तो नहीं जायगी? नाना प्रकार के प्रश्न उठे। किन्तु देखा, उस बर्फीले पथ पर पैरों के हलके-हलके-से थाप पड़े हैं। मैं लाठी लिये आगे बढ़ा।

कुछ भी नहीं—बिल्कुल साधारण रास्ता-सा था। नीचे की बर्फ काफी कड़ी थी। हाँ, कुछ दूर हटकर मन्दाकिनी की ओर ऐसा मालूम हो रहा था मानों बर्फ धीरे-धीरे गल रही हो। मैं इस पार आया। सामने 'रामबाड़ा'-चट्टी थी। उसके पास ही नहर का बर्फीला जल बह रहा था? छूने से मानों हाथ गलने

लगते थे। मन्दाकिनी के ऊपर कहीं-कही बर्फ की गुफा-सी बन गई थी, जिसके नीचे से आती हुई नदी की धारा बड़ी ही सुन्दर मालूम हो रही थी। वह भी एक अजीब दृश्य था।

रामबाड़ा की दूकानें कुछ उतनी अच्छी नहीं बनी हैं। ऊपर हल्की-हल्की घास और लकड़ियों से पटी हुई हैं। खाने-पीने के बाद हमलोग उन्हीं में आराम कर रहे थे कि एकाएक आसमान में मेघ घिर आये। वर्षा का सामान हो आया। झाजी ने मजाक में ही कहा—"हे भगवान्, ऐसा बरसो कि छत टपकने लगे।" भगवान् ने उनका मजाक भी सुन लिया। जोर-शोर से पानी बरसने लगा, टप-टप-टप-टप! छत टपकने लगी! उस दूकान के अन्दर ही छाता खोलकर बैठना पड़ा!

उसी समय केदारनाथ से लौटते हुए एक दम्पती ने वहाँ शरण ली। वे जमुनोत्री, गंगोत्री, त्रियुगीनारायण होते हुए केदारनाथ गये थे। उनका यात्रा-विवरण बड़ा ही रोचक तथा रोमांचकारी था। पवाली के पास बर्फ पर फिसलने का वृत्तान्त जब उन्होंने सुनाया तब रोएँ खड़े हो गये। उनकी यात्रा के आगे हमारी क्या बिसात थी। मेरा जी तड़प उठा, न जाने कब उस पथ पर चलने का सौभाग्य होगा हे भगवन्!

वर्षा बन्द हो गई। वे लोग उठे और अपने गन्तव्य पथ की ओर चले गये।

हमलोग भी आज अपराह्न में श्रीकेदारनाथ की यात्रा करना चाहते थे, लेकिन 'बादल का रंग देख के नीयत बदल गई।' आसमान में तब भी काले-काले मेघ घिरे हुए थे। तिसपर लोगों ने बतलाया कि रास्ता सवा तीन मील कठिन चढ़ाई

का है, बहुत दूर तक बर्फ पर चलना पड़ता है। किताब-वाले ने भी डरा दिया था कि 'मार्ग कठिन चढ़ाई का है।' 'हारिये न हिम्मत बिसारिये न हरिनाम।' उसके हिम्मत दिलाने से हिम्मत और भी कम होती जाती थी, और बरसात की फिसलन में हमने उस समय न जाना ही ठीक समझा।

बदरीनाथ के पंडाजी उस पहाड़ी प्रदेश में भी न जाने कहाँ से ताश ले आये और एक सेट 'ट्वेंटी-एट' का वहाँ भी जम ही गया। तिवारीजी हार गये !

रात पूरी-तरकारी खाई। ठंढ बहुत ही अधिक थी। चारों ओर बर्फ-ही-बर्फ थी। फिर ठंढ का क्या पूछना, सारे गर्म कपड़े पहन-ओढ़कर सो रहा। दूसरे दिन श्रीकेदारनाथ-धाम जाना था।

卐

श्रीकेदारनाथ-धाम

[१]

हिमालय के दक्खिन, ठीक उसके चरण-तले, अवस्थित है देव-देव महादेव का वह दिव्य धाम, जिसके दर्शन के लिये युग-युग से यात्री प्रत्येक वर्ष आते ही रहते हैं। समुद्रतल से उसकी ऊँचाई ग्यारह हजार फीट से भी अधिक है। बर्फ उसके चारों ओर बारहो महीने रहती है। कार्त्तिक की यमद्वितीया से लेकर वैशाख की संक्रान्ति तक तो वह बर्फ से इस प्रकार ढँका रहता है कि यात्रियों का आवागमन बिल्कुल बन्द ही हो जाता है। कार्त्तिकी पूर्णिमा के अवसर पर वहाँ के पुजारी, श्रीकेदारनाथ की चल मूर्त्ति को वहाँ से हटाकर, पचीस मील दक्खिन ऊखीमठ में, ले आते हैं और वहीं उसकी पूजा होती है। वही केदारनाथ का 'विंटर-कैपिटल' (शीतनिवास) है।

उधर धाम में, मन्दिर के अन्दर, केदारनाथ की पूजा के सब सामान रखकर, घी तथा तेल से भरे दीपक में खड़ी बत्ती जलाकर, पट बन्द कर दिया जाता है। मेष-संक्रान्ति के समय मन्दिर का दरवाजा खुलता है और लोग कहते हैं कि दीपक ज्यों-का-त्यों जलता नजर आता है। उसके बाद मजदूर बर्फ काटकर रास्ता बनाते हैं और यात्रियों का आवागमन शुरू हो जाता है।

अब आगे नौ दिन का रास्ता था—श्रीबदरीनारायणपुरी तक। 'मियाँ-बीबी कीन्हीं रोस, नौ दिन चले अढ़ाई कोस।' पहाड़ में यह मसल बहुत मशहूर है। कहते हैं कि केदारनाथ से बदरीनाथ केवल ढाई कोस के फासले पर है, किन्तु रास्ता दुर्गम और बर्फ से ढँका हुआ है, इस कारण चक्करदार रास्ते से जाना पड़ता है, जिसमें नौ दिन लग जाते हैं! एक समय था जब सीधी राह भी खुली हुई थी और लोग उसी राह आया-जाया करते थे; किन्तु मियाँ-बीबी के झगड़े के कारण वह राह काट दी गई और तबसे घूमकर जाने के सिवा और कोई चारा न रहा। ये मियाँ-बीबी कौन थे, इसका पता न लग सका।

लौटते समय देखा, वही रास्ता—जिससे कल ही आये थे—जगह-जगह खराब हो गया है, कहीं-कहीं बर्फ के टूटने के भी लक्षण दिखलाई दे रहे हैं। एक जगह दरार-सी दिखलाई पड़ी। मेरा जी डरा और मैं माँ के लिये रुक गया।

इसी प्रकार बर्फों के सामने रुकता-रुकता चला। एक जगह तो फेकू कुछ फिसलकर गिर भी पड़ा था; किन्तु कुशल हुई कि सँभल गया। 'रामबाड़ा' के पास वाली बर्फ और भी खराब हो गई थी।

खैर, इसके बाद ही बर्फीली राह का अन्त हुआ। बर्फ को अन्तिम प्रणाम कर मैं आगे बढ़ा; क्योंकि मुझे आशा नहीं थी कि आगे भी कहीं बर्फ मिलेगी। बदरीनाथ के पंडे ने भी ऐसा ही कहा था कि उस ओर बर्फ नहीं है। जान-बूझकर ये लोग ऐसे मौकों पर झूठ बोल देते हैं। कहते हैं—"बाबूजी, ऐसा न कहें तो आपलोग आवेंगे कैसे! डर के मारे उधर ही रह जायँगे।" बात भी ठीक ही है।

लौटती यात्रा में कोई विशेष कष्ट न हुआ। जाती बार जितनी चढ़ाई मिली थी, लौटती बार उतनी ही उतराई मिली। झट-झट उतरता गया। उसी समय जी में आया—'तेरी उल्फत के कूचे में नफा पीछे जरर पहले।'

किन्तु न जाने क्यों, उस चढ़ाई में जितना आनन्द आया था उतना इस उतराई में न आया! नवीनता की बात ही कुछ और होती है। एक अजीब उदासी का भाव उदित हुआ—

"जबतक मिले न थे, जुदाई का था मलाल।
अब यह मलाल है कि तमन्ना निकल गई॥"

गौरीकुंड में दिन का विश्राम हुआ। फिर मक्खियों के देश में आ गये! फेकू के कान में दर्द था; किन्तु सेंकने से वह ठीक हो गया। कुछ देर आराम करने के बाद विना दाल की खिचड़ी खाई। रात को रामपुर में टिकना था। रास्ते में खूब किरमोरा और गौरीफल खाता हुआ आया। बीच में अखरोट और नासपाती के जंगल मिले, जिनमें कच्चे-कच्चे फल लटके हुए थे। आश्विन में आने से बहुत आनन्द आता। खूब फल खाने को मिलते और दृश्य भी सुन्दर-सुन्दर देखने में आते। सुना, उस समय सारा पर्वतप्रान्त खिल उठता है, फूलों की सुगन्ध से मन मस्त हो जाता है।

सोनप्रयाग में इस पार कुछ देर ठहरा। वहीं माँ को वह बुढ़िया मिली, जो पटने में साग-भाजी दिया करती थी। उसके साथ सिर्फ एक लोटा और एक साड़ी थी। शरीर पर एक कुर्ती भी न थी। फिर भी वह उत्तराखंड की यात्रा करने निकल पड़ी

थी। केदारनाथ के दर्शन भी कर आई। इसीको शायद आत्म-बल कहते हैं! उसीने माँ को पहले पहचाना। फिर तो वह हमलोगों के साथ हो गई। यात्रा के अन्त तक उससे पीछा न छूटा।

सोनप्रयाग से लगभग दो मील तक रास्ता नया मिला। ऊपर था त्रियुगीनारायण का पथ, जिससे मैं आया था! उसी पथ को देखता और अतीत को याद करता हुआ शाम को रामपुर पहुँच गया। पुराने स्थान से थोड़ा हटकर दूसरे स्थान पर टिका।

[३]

तीस तारीख को सवेरे उसी पुराने रास्ते से चल पड़ा। शीघ्र ही 'फाटा' पहुँच गया और रविदत्त से मिला। इक्कीस मई का 'प्रताप' पढ़ा। कुछ देर विश्राम किया। लगभग एक घंटा—सामान, कुली इत्यादि के लिये—रुकना पड़ा। उनके आ जाने पर सब उनके सुपुर्द कर रविदत्त से बिदा हुआ।

वहाँ से महिषमर्दिनी तक चढ़ाई मिली। कुछ देर वहाँ ठहर गया। देवी के दर्शन किये; किन्तु झूले पर नहीं चढ़ा। हमारे दल की एक देवीजी झूले पर झूल रही थीं। धूप उस समय तक काफी निकल चुकी थी। अतः चलने में तकलीफ मालूम हुई, यद्यपि रास्ता उतराई का था।

व्यूंगतल्लो पर पुल के पास ही पड़ाव पड़ा। पानी का बड़ा आराम था। बिल्कुल पास ही पहाड़ से सुन्दर झरना बहता आ रहा था। वहीं लकड़ी के बर्त्तन बन रहे थे। हमारा दूकानदार लड़का-सा था, बड़े मजे का। कान में सोने के कुंडल,

कमर में लँगोटी। कहता था, तुम नीचे के सेठ हो तो मैं पहाड़ी सेठ हूँ। डिप्टी साहब से उसकी खूब पटती थी। उन्होंने अपनी तम्बाकू के बल पर सारे पहाड़ियों को अपने वश में कर लिया था। डांडी-कुली, बोझा-कुली, दूकानदार, सभी एक फूँक पी लेते और प्रसन्न हो जाते थे। पहाड़ में तम्बाकू प्रायः प्रत्येक व्यक्ति पीता है, बालक से बूढ़े तक। वहाँ यह कोई शिकायत की बात नहीं समझी जाती।

व्यूंग से ऊपर काफी दूर तक चढ़ाई मिली। बीच-बीच में नाच-नाचकर और ढोल बजा-बजाकर भीख माँगनेवाले काफी मिले। भेत से नाला तक रास्ता सीधा मिला। नाला-चट्टी पर ही केदारनाथ और बदरीनाथ का पथ अलग-अलग हुआ। केदारनाथ के पंडे, गुमाश्ते, नौकर, सभी हमसे यहीं विदा हुए। शंकरदत्त को मैंने एक रुपया दिया। उसने मेरी बड़ी सेवा की थी; पैर भी दबाये थे। उस समय तक मुझे यह पता न था कि वह ब्राह्मण है। बाद को उसीसे पता चला। "बाबूजी, पेट के कारण सब कुछ करना पड़ता है!" आह! गरीबी भी क्या शै है!

केदारनाथ की राह को प्रणाम कर बदरीनाथ की राह पकड़ी। ठीक कोने पर गणेश की मूर्त्ति थी। विघ्नहर को प्रणाम कर आगे की ओर चल पड़ा। रास्ता उतराई का था।

थोड़ी दूर चलने पर छः फर्लाङ्ग की सूचना देनेवाला पत्थर मिला। मालूम हुआ, चमोली से गुप्तकाशी को जो सड़क जाती है उसी पर का पत्थर है। पूरे तीस मील का हिसाब है—चमोली से। २८–४ तक उतार-ही-उतार मिला—मन्दाकिनी के पुल तक। यहाँ बड़ी निर्मल धारा थी मन्दाकिनी की। पुल पर कुछ देर बैठा।
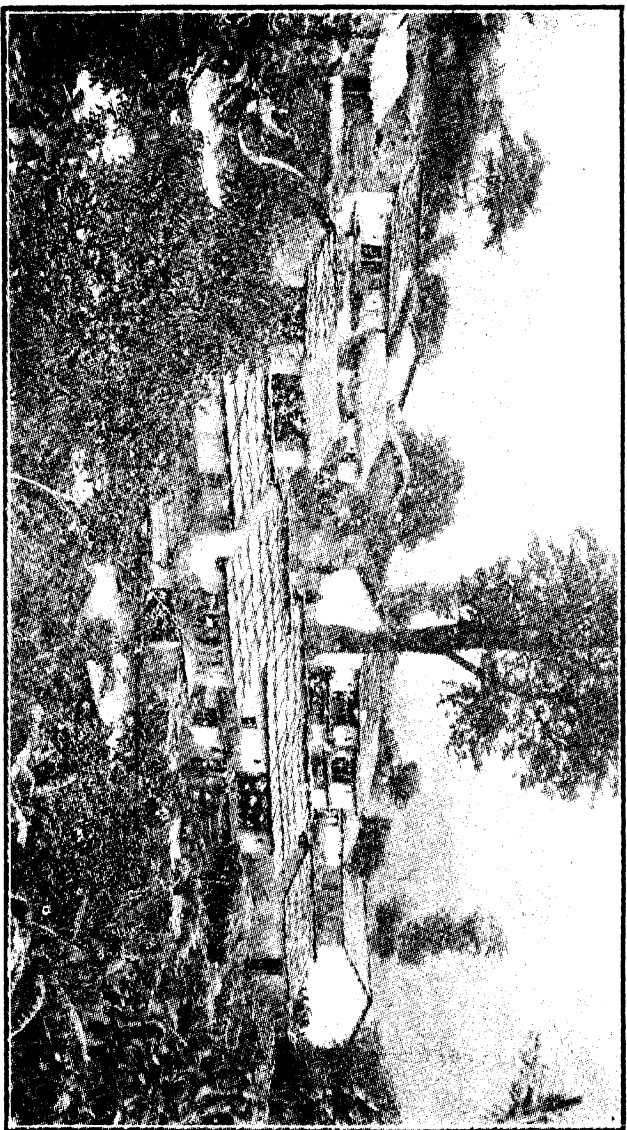
नाला-चट्टी (गुप्तकाशी के बाद)—यहाँ श्रीबदरी-केदार की राहें अलग होती हैं ।—पृष्ठ १२८

नीचे से पानी मँगाकर पिया। मन्दाकिनी का साथ छूट रहा है। यही उसका अन्तिम दर्शन है और यही उसका अन्तिम जल। एक बार उसे प्रणाम कर अग्रसर हुआ।

कठिन चढ़ाई थी—ऊखीमठ की। हिम्मत कर आगे चल पड़ा। यह चढ़ाई बिजनी से भी कड़ी मिली—पूरे पौने तीन मील की; फिर भी येन-केन प्रकारेण रास्ता तय हो ही गया। ऊखीमठ के पास पहुँचने पर सामने अस्पताल दिखलाई दिया। वहाँ से एक छोटा-सा रास्ता था। उसे ही पकड़कर ऊपर आया। मन्दिर के पास तिवारीजी इत्यादि अखबार पढ़ रहे थे। सुन्दर सुविशाल भवन था। अँधेरा हो गया था। मेरे पास रावलजी के नाम एक पत्र था—गुरुवर नरदेव शास्त्री का—केदारनाथ-दर्शन की सुविधा के लिये; किन्तु उसकी जरूरत ही न पड़ी, तिसपर सुना कि रावलजी यहाँ नहीं हैं, अपने देश गये हुए हैं। काफी देर हो गई थी। अतः मैंने किसीसे भी परिचय न किया।

एक जर्जर मकान में हमलोगों का पड़ाव पड़ा। आज हमलोग पूरे चौदह मील चले थे। रास्ता भी सीधा नहीं मिला था। काफी चढ़ाई और उतराई थी। तिसपर ऊखीमठ की अन्तिम चढ़ाई ने बिल्कुल चूर कर दिया था। पड़ाव पर पहुँचकर कुछ देर तक आराम किया। नमक और गर्म पानी से पैर धुलाया। चाय पी। फिर कुछ प्रकृतिस्थ हुआ।

आसमान में बादल घिरे हुए थे—हल्के-हल्के-से। नन्हीं-नन्हीं बूँदें भी पड़ रही थीं। चारों ओर अन्धकार छाया हुआ था। उसी में मैं चला मन्दिर की ओर देवताओं के दर्शन करने। आरती के समय पहुँच गया। ओंकारेश्वर, मान्धाता, चारों युग,

पञ्चकेदार, उषा-अनिरुद्ध, गंगोत्री आदि के दर्शन कर आया। रावलजी की गद्दी पर सोने के पञ्चमुखी श्रीकेदारनाथजी का मुकुट रक्खा हुआ था। चाँदी का सोटा लिये चोबदार खड़ा था। मान्धाता की मूर्त्ति बड़ी-सी काले पाषाण की थी। सभी मूर्त्तियाँ दिव्य वस्त्राभूषणों से सुसज्जित थीं। इनका माहात्म्य शास्त्रों में पूर्णरूपेण कथित है—

"यत्रोषा चानिरुद्धश्च चित्ररेखा च तत्सखी।
ओंकारेशस्तथा देवी वाराही चण्डिका तथा॥
राजर्षिश्चापि मान्धाता तिष्ठन्त्येते वरप्रदा।
दर्शनात्पूजनाद्येषां लभतेऽभीप्सितं फलम्॥"

ऊखीमठ पवित्र स्थान है। यहीं श्रीकेदारनाथजी का शीत-निवास है। यहाँ से उन्नीस मील द्वितीय केदार (मध्यमहेश्वर) को एक बटिया जाती है। ज्येष्ठ-शुक्ला द्वादशी को वहाँ पट खुलता है। रास्ता काफी कठिन है। ऊखीमठ की बस्ती भी अच्छी है। इसे पहाड़ी शहर कहना ही ठीक होगा। डाकघर, अस्पताल, तारघर इत्यादि सभी मौजूद हैं। दूकानें भी अच्छी-अच्छी हैं और मान्धाता का मन्दिर तो वास्तव में बहुत ही विशाल है।

मन्दिर से जब मैं लौटकर आया, एक छोटी-सी दुर्घटना हो गई। मकान जर्जर था ही। ऊपर छप्पर से एक छोटा-सा बिच्छू गिरा। माँ वहीं थीं। उसने उन्हें डंक मार दिया। अब क्या हो ? मैं तो घबरा गया। तबीयत परेशान हो गई। अमृत-धारा मली गई। कोई लाभ न हुआ! किन्तु फिटकरी ने कमाल किया। उसे बार-बार पानी में भिगोकर दंश पर घिसने से बहुत

फायदा हुआ। अधिक विष नहीं चढ़ा। थोड़ी देर में तबीयत ठीक हो गई। ईश्वर की दया।

खाने-पीने के बाद आराम से सोया। सर्दी नहीं मालूम हुई। लेटे-ही-लेटे देखा—सामने मन्दाकिनी के उस पार गुप्तकाशी चमक रही थी। जाते समय जिस मकान में हमलोग ठहरे थे,
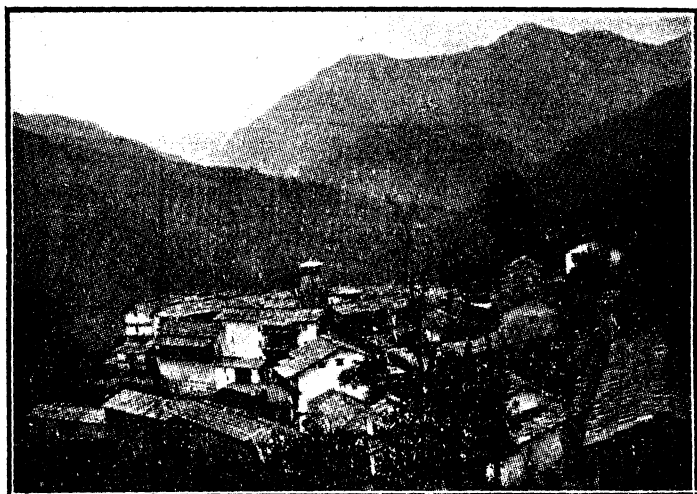
ऊखीमठ की बस्ती

उसकी रोशनी भी साफ दिखलाई दी। बस, याद आ गईं पुरानी बातें—उस दिन की कड़ी चढ़ाई, उस दिन की वर्षा। चन्द्रापुरी, गुप्तकाशी, त्रियुगीनारायण, गौरीकुंड, रामबाड़ा, केदारनाथ-धाम—सभी एक-एक कर याद आये। छूट गया सबका साथ। केदारनाथ का वह पथ भी छूट गया, जिसपर इतने दिन चले

थे। आज तो हम उस रास्ते पर हैं, जो गुप्तकाशी से चमोली जाता है, और इस प्रकार केदारनाथ की राह को बदरीनाथ की राह से मिलाता है।

卐

तुंगनाथ-शिखर पर

[१]

गुप्तकाशी से चमोली को जो राह जाती है उसमें कितने ही दर्शनीय दिव्य स्थान हैं, जिनमें ऊखीमठ और गोपेश्वर मुख्य हैं—गुप्तकाशी के पास ऊखीमठ, चमोली के पास गोपेश्वर। दोनों ही सुप्रसिद्ध तीर्थस्थान हैं। उसी पथ से कुछ हटकर द्वितीय केदार (मध्यमहेश्वर), तृतीय केदार (तुंगनाथ) और चतुर्थ केदार (रुद्रनाथ) को भी राह गई है। मध्यमहेश्वर की राह ऊखीमठ से है—सोलह मील की। तुङ्गनाथ चोपता से जाते हैं—दो मील ऊपर की ओर। रुद्रनाथ को रास्ता मंडल से गया है—चौदह मील चलना पड़ता है। राह सबकी विकट ही है। काफी चढ़ाई तय करनी पड़ती है। चलना भी कम नहीं पड़ता। सबकी अपेक्षा तुङ्गनाथ ही सुलभ हैं। अतः इस यात्रा में हमलोगों का विचार हुआ कि उनके दर्शन अवश्य कर लिये जायँ। ऊखीमठ तक तो पहुँच ही गये थे, अब एक दिन का सफर और है। दूसरे दिन तुङ्गनाथ के उच्च शिखर पर पहुँच जायँगे, समुद्रतल से बारह हजार फीट की ऊँचाई पर।

ऊखीमठ से हमलोग इकतीस मई को सवेरे चले। सामने

कठिन चढ़ाई थी। पाँच फर्लाङ्ग पर जुवा-चट्टी मिली। कन्था-चट्टी साढ़े तीन मील पर थी। उसके बाद सिरसोली की कठिन चढ़ाई मिली, और थोड़ी ही देर बाद जबरदस्त उतराई—ग्वाल्या-बगड़ तक। कन्थाचट्टी से पौने दो मील पर ग्वाल्या-बगड़ मिला। तिवारीजी इत्यादि वहीं पर विश्राम कर रहे थे। चट्टी काफी सुन्दर थी—रमणीक। अच्छी सुन्दर धारा बह रही थी—तीव्र गति से। उसके ऊपर लकड़ी का पुल था। तिवारीजी इत्यादि ने वहाँ ताजा भुना हुआ चना खाया। इस पर्वत-पथ में वह भी एक न्यामत था। मुझे भी लालच हुई; किन्तु मैं रुका नहीं। सामने ही एक मील को कठिन चढ़ाई थी—दैड़ा-चट्टी तक, जहाँ दिन में ठहरना था। धूप काफी चढ़ आई थी। इसलिये कहीं आराम करने की गुंजाइश न थी। रास्ता कठिन था—सड़क अच्छी न थी, फिर भी धूप में तपते हुए आगे चले जा रहे थे—अपनी धुन में मस्त।

किसी-किसी तरह मंजिल तय हो गई और एक अच्छी-सी जगह देखकर डेरा डाला। पास ही पानी की कल थी; किन्तु मक्खियों का उपद्रव यहाँ भी अत्यधिक था। मैंने नल पर आकर स्नान किया। नया रास्ता होने के कारण उदासी दूर हो गई थी और हृदय में नया उत्साह भर आया था।

गुप्तकाशी में मैंने मोमजामा खरीद लिया था—अपने बिस्तर को वर्षा से बचाने के लिये। किन्तु संयोग ऐसा हुआ कि सफर में अबतक कहीं भी पानी न बरसा। मैंने कहा—"फजूल ही यह 'आयल-क्लाथ' लिया गया। इसकी जरूरत तो पड़ी ही नहीं।" जान पड़ता है, ईश्वर मेरी यह बात सुन रहा था।

उसने भी सोचा—अच्छी बात है, इन्हें भी जरा वर्षा का मजा चखा दो।

दैड़ाचट्टी से जब चलने की तैयारी हुई, उधर आसमान में बादल के टुकड़े दिखलाई दिये। थोड़ी ही दूर आगे चलने पर वर्षा शुरू हो गई। भगवान् हमारी शिकायत बर्दाश्त न कर सके। किन्तु यहाँ हम भी जिद पर अड़े हुए थे। सोचा—

बरसता है बरसने दो, मगर हम पथ न छोड़ेंगे।
चलेंगे राह पर अपनी, न मुँह पीछे को मोड़ेंगे॥

रास्ता चढ़ाई का! उधर पानी का वेग बढ़ता ही गया—

"गरजैं नभ में घन ताप-से, वृक्ष के पत्रहूँ शोर मचाय रहे।
बिजुरी की छुरी चमकै अरु मेघ तिरीछे-से तीर चलाय रहे॥"

किन्तु हम भी रुकनेवाले जीव न थे। मेघों का वार रोकने के लिये छाता सामने कुछ टेढ़ा-सा कर लिया। धोती कुछ ऊपर उठाकर घुटने तक कर ली। धीरे-धीरे आगे बढ़ता गया। बड़ी कठिनाई थी।

बीच में बदरीनाथवाले पंडाजी मिले। एक डाँडी के पास खड़े होकर पेड़ के नीचे पानी से अपना बचाव कर रहे थे। मेरे पहुँचने पर फिर वे भी साथ चले। मुझे उस परेशानी में भी आनन्द आया। तुकबन्दी सूझी। पंडाजी से कहने लगा—

बाहर से जल बरस रहा है, अन्दर चलत पसीना।
कैसे पन्थ कटेगा पंडा, कठिन हुआ है जीना॥

सचमुच वर्षा का वेग इतना अधिक बढ़ गया कि सामने

का रास्ता भी मुश्किल से दिखलाई देने लगा। पहाड़ी रास्ते में कभी-कभी यह भी डर होता था कि कहीं ऊपर से पत्थर न खिसक पड़े। आखिर भगवान् से झगड़ा कबतक ? जी में हुआ कि कोई भी चट्टी मिल जाय तो वहीं पड़ाव डाल दें। बीच में शायद गोगचट्टी मिली; किन्तु मुझे उसका पता भी न चला। ढाई मील चलने पर पोथीबासा मिला। हमारे दल के सभी लोग पहले से ही वहाँ पहुँचकर डेरा डाले हुए थे। बिछावन इत्यादि भी बिछ गये थे। चाय बन रही थी। जान में जान आई। छाता अलग रख दिया। जूते खोलकर बिछावन पर बैठ गया।

हमलोगों को परास्त करने पर देवता को कुछ संतोष हुआ। वर्षा बन्द हो गई। दिन तब भी बाकी था। लोगों की राय हुई, आगे वणयाकुंड तक चलने की। फिर बिछावन समेटे गये, बाँधे गये; कूच बोल दी गई।

पानी के कारण पथ पिच्छिल हो गया था, किन्तु मैं प्रधान पथ से नहीं गया। देखा, अपने नैपाली कुली बीच जंगल होकर पगडंडी पकड़े चले जा रहे हैं। मैं भी उनके पीछे हो लिया। खूब आनन्द आया। पत्तों के कारण इधर फिसलन भी कम थी, किसी प्रकार का कष्ट न हुआ। थोड़ी ही देर बाद प्रधान पथ मिल गया।

नैपाली कुलियों का सरदार 'प्रतापसिंह' आगे-आगे जा रहा था। साँप की चाल के समान बिल्कुल टेढ़ा-मेढ़ा। मैंने भी उसका अनुकरण किया। देखा कि इस चाल से चलने पर थकावट बिल्कुल नहीं मालूम होती। यह देखकर सचमुच बड़ी खुशी हुई।

डोगल-भीटा पहुँचने पर देखा--चमोली अठारह मील। दल के बहुत-से लोग वहीं ठहर गये, किन्तु हमारे विशिष्ट व्यक्ति आगे वण्याकुंड पर ही ठहरे। पोथीबासा से सवा दो मील पर वण्याकुंड मिला। सबसे पहले बाबा काली कमलीवाले की धर्मशाला देखने में आई। तिवारीजी इत्यादि वहीं ठहर गये थे। काफी आराम की जगह थी। उनके पुकारने पर मैं वहाँ गया। किन्तु मालूम हुआ कि हमारे अपने लोग आगे एक बनिये की दूकान पर ठहरे हैं। मुझे वहीं जाना पड़ा।

वहाँ पहुँचकर देखा कि लोग अंगीठी सुलगाकर आग ताप रहे हैं। सचमुच मौसिम बहुत ही खराब हो गया था। चारों ओर पानी-ही-पानी जमा था। रास्ते पर भी फिसलन बहुत ज्यादा थी। रास्ते की थकावट दूर करने के लिये मैं कुछ देर वहीं आग के पास बैठा।

सामने बिल्कुल समीप ही बर्फ का पहाड़ दिखलाई दे रहा था। इधर-उधर चारों ओर हरियाली-ही-हरियाली थी। किन्तु रात हो चली थी। मैं उसका पूरा आनन्द न उठा सका।

बादल तब भी घिरे हुए थे, जिनके कारण चाँद की किरणों को नीचे आने में बहुत कष्ट हो रहा था। वण्याकुंड भी काफी ठंढा स्थान मालूम हुआ। रामबाड़ा भी इसके आगे बिल्कुल फीका पड़ गया। आग तापकर सर्दी मिटाई जा रही थी। मुझे भी कुछ देर उसीका सहारा लेना पड़ा। फिर खाने-पीने के बाद रात को सारे गर्म कपड़े पहन-ओढ़कर सोया। वण्याकुंड में इतनी अधिक सर्दी मिलेगी, इसका अनुमान भी नहीं किया था।

[२]

पहली जून, १९३३। आज सवेरे तुङ्गनाथ की यात्रा थी। लोगों ने काफी डरा दिया था। पुस्तकवालों ने 'चढ़ाई' के पीछे 'कठिन' विशेषण लगा दिया था। फिर भी आगे की कठिनाई का सामना करने के लिये तैयार होकर मैं यात्रा-पथ पर चल पड़ा। उधर से काकाजी आये। हम दोनों साथ ही रवाना हुए। झाजी ने पहले से ही न जाने का निश्चय कर लिया था। तिवारीजी ने झम्पान का सहारा लेना उचित समझा। उनका हमारा साथ न था। सत्तर वर्ष के बूढ़े काकाजी और तैंतीस वर्ष का मैं! इस यात्रा में ज्यादातर हमी दोनों साथ रहे।

वरण्याकुंड से चोपता जाने के लिये सवा मील राह तय करनी पड़ी। वहीं एक मोटे पंजाबी महाशय मिले, जो गंगोत्री-जमुनोत्री आदि की यात्रा तय करते हुए चले आ रहे थे। बिल्कुल मस्तराम थे। हँसोड़ प्रकृति थी। वे भी हमारे साथ हुए।

चोपता के बाद ही पथसूचक स्तम्भ मिला—चमोली सोलह (?) मील, तुङ्गनाथ दो मील। पुस्तकों में चोपता से तुङ्गनाथ तीन मील बतलाया गया था! एक मील की कमी देख चित्त और भी प्रसन्न हुआ। ऐसा जान पड़ा मानों एक मील रास्ता ही तय कर लिया हो।

जहाँ चढ़ाई शुरू होती है वहीं कंडी-झम्पानवाले मिले। मजाक में ही कंडीवालों से हमलोगों ने सवारी ठहराना शुरू किया। किन्तु हमलोगों के वृहदाकार को देखकर वे काँप उठे। हाँ, काकाजी के लिये वे तैयार थे। किन्तु हमलोगों की जिद

अपने लिये थी। आखिर किसी भी कंडीवाले की हिम्मत न हुई। इधर हमलोगों का हँसते-हँसते बुरा हाल था।

चढ़ाई शुरू हो गई। रास्ता वैसा बुरा न था, और आस-पास की हरियाली से मानों जी के अन्दर भी हरियाली आ गई। बड़े ही सुन्दर हैं इधर के पहाड़—बड़े ही सुन्दर हैं इनके दृश्य। एक विशेष प्रकार के फूलों का जंगल-सा मिला। सुन्दर-सुन्दर लाल-लाल फूल। किन्तु उनमें गन्ध नहीं थी! उनके वृक्ष बड़े-बड़े थे, जिनपर लदे हुए उनके गुच्छे अत्यन्त सुहावने प्रतीत होते थे। देखकर मन मुग्ध हो गया।

एक मील चलने पर एक दूकान मिली, जहाँ कुछ लोग खाने-पीने के लिये ठहर गये। किन्तु हमें तो कुछ खाना-पीना न था, इसीसे वहाँ ठहरे नहीं, आगे ही बढ़ते गये।

ज्यों-ज्यों ऊपर चढ़ता गया; त्यों-त्यों नीचे के दृश्य और भी रमणीक दिखलाई दिये। यह पहाड़ इतनी ऊँचाई पर था कि पास के और सभी पहाड़ उसके नीचे पड़ गये और वहाँ से सभी का एक भव्य दृश्य दिखलाई दिया। हरे-भरे पहाड़—सुन्दर सीढ़ियोंवाले खेत—पतले-पतले झरने—चाँदी के समान चमकीली नदियाँ। दूर-दूर तक पहाड़-ही-पहाड़ थे, जिनकी चोटियों पर मेघमाला विश्राम कर रही थी। बहुत दिनों बाद यहाँ से क्षितिज के दर्शन हुए—

अगनित पर्वत-खंड चहूँदिसि देत दिखाई।
सिर परसत आकास, चरन पाताल छुआई॥
सोहत सुन्दर खेत पाँति-तरु ऊपर छाई।
मानहुँ बिधि पट हरित स्वर्ग-सोपान बिछाई॥

कुछ और ऊपर चढ़ने पर हिमालय का भव्य दृश्य दिखलाई पड़ा। उत्तर की ओर खड़ी थी बर्फ की दीवार—दूर-दूर तक फैली हुई—"पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः।" साफ मालूम होता था मानों यह किसी विशाल स्वर्गीय देश की उच्च प्राचीर है—उज्ज्वल, चमचम, चाँदी के समान। उसी समय समझ में आया कि लोग क्यों हिमालय को 'हमारा सन्तरी' बतलाते हैं। डाक्टर इकबाल की वह सुप्रसिद्ध उक्ति याद आ गई—

"पर्बत वो ऊँचा-ऊँचा हमसाया आसमाँ का।
वह संतरी हमारा, वह पासबाँ हमारा॥"

सचमुच वह हमारा संतरी है। मेरा चित्त उसे देखकर विस्मय, आनन्द तथा श्रद्धा से भर उठा—'मेरे नगपति! मेरे विशाल!' कितना ममत्व मालूम होता है अपने हिमालय पर! सचमुच वह सुन्दर दृश्य मरते दम तक न भूल सकूँगा।

रास्ते में ही एक जगह से पंडा ने दिखलाया—वह केदारनाथ है, वह त्रियुगीनारायण है, वह बदरीनाथ है। और सब जगहों का नाम बेचारे को मालूम ही न था! जी में हुआ कि यदि कोई भी बतलानेवाला रहता तो कितना आनन्द आता। किन्तु मैंने जितना देखा वह पर्याप्त था। अब भी उसकी याद आती है तो चित्त गद्गद हो जाता है—और मन में होता है, यदि वह दृश्य न देखता तो संसार का एक बहुत ही सुन्दर दृश्य देखने से रह जाता।

हृदय में उत्साह हुआ। सोचा, ऊपर पहुँचकर खूब जी भरकर उस अलौकिक दृश्य को देखूँगा। किन्तु भगवान् से वह
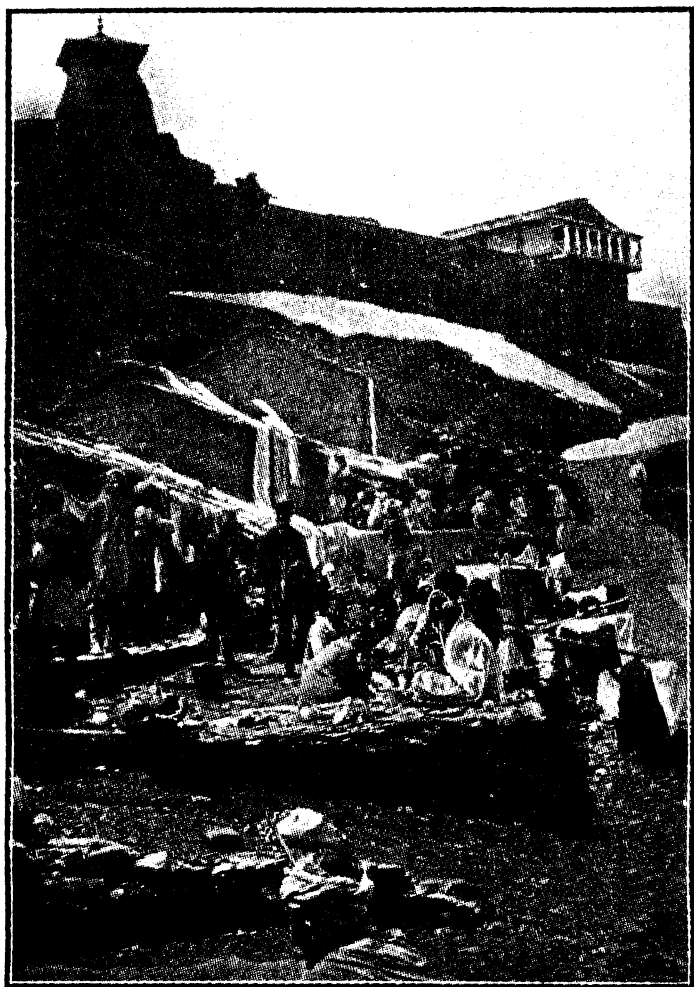
तुङ्गनाथ का मन्दिर और बस्ती (पृष्ठ १४१)

सहा न गया। चारों ओर बादल छा गये। सपने के संसार के समान वह सुन्दर दृश्य आँखों से ओझल हो गया।

[३]

तुंगनाथ पहुँचने में तब भी तीन-चार फर्लांङ्ग बाकी रह गये थे। आखिरी मोड़ पर पहुँचने पर सामने सीधा सुरंग-सा रास्ता दिखाई दिया। धीरे-धीरे ऊपर की ओर चढ़ता गया। इतनी कठिन चढ़ाई हमें कहीं भी न मिली थी। दो मील की राह तीन घंटे में तय हुई। रास्ते में इधर-उधर बर्फ भी मिली, जगह-जगह जमी हुई थी।

तुंगनाथ के पास पहुँचकर सबसे पहले आकाश-गंगा का छोटा-सा प्रपात देखा। सामने छोटी-सी पहाड़ी थी—एक मनुष्य की ऊँचाई से कुछ ही और अधिक। उसपर बर्फ की बिल्कुल मोटी-सी तह जमी हुई थी, जिसके अन्दर से वेग के साथ धारा आ रही थी और झरने के रूप में प्रवाहित हो रही थी। ऊपर ब्राह्मण-देवता संकल्प करा रहे थे और नीचे कुछ लोग स्नान करने के उद्योग में थे। किन्तु पानी इतना ठंढा था कि कुछ सेकंड से अधिक कोई भी उसके नीचे खड़ा नहीं रह सकता था।

आ गये तुंगनाथ के उच्च शिखर पर—बिल्कुल बादलों के घर में। चारों ओर बस बादल-ही-बादल थे ; इधर-उधर उनके सिवा और कुछ भी दिखलाई न दिया। अफसोस! और कुछ भी न देख सका। हृदय में बड़ा ही दुःख हुआ उस दृश्य को खोकर। "ऐसी घड़ियाँ आती हैं बस कभी-कभी जीवन में।" वैसी अमूल्य घड़ी भी मेरे हाथ से निकल गई!

ऊपर ठंढ बहुत थी। मकानों के सामने इर्द-गिर्द केवल

बर्फ-ही-बर्फ जमी थी। बाबा काली कमलीवाले की धर्मशाला का निचला हिस्सा बिल्कुल बर्फ से ढँका हुआ था। हमलोग ऊपरी मञ्जिल पर ठहरे। जमीन गीली थी। चटाई भी नहीं थी वहाँ पर। सदावर्ती ने बैठने-ओढ़ने के लिये चार कम्बल ला दिये। ऐसी सख्त सर्दी और कहीं भी न मिली थी। कटकट-कटकट बतीसी बज रही थी। होश ठिकाने न थे। आग सुलगाई गई। कुछ प्रकृतिस्थ हुए।

फिर पूजा इत्यादि समाप्त करने की सलाह हुई। आकाश-गंगा के नीचे खड़े होकर नहाने की हिम्मत किसीकी भी न हुई। किन्तु मेरे जी में कुछ कौतूहल था। सबके स्नान कर लेने के बाद मैं गया। ब्राह्मण-देवता ने संकल्प कराया। मैं बड़ी हिम्मत करके आकाश-गंगा की धारा के नीचे चला गया। एक बार— बस एक बार। उसके बाद फिर हिम्मत न हुई। ऐसा जान पड़ा मानों किसीने दाग दिया हो। बिल्कुल बर्फ का पानी था। किन्तु स्नान के बाद उतनी अधिक सर्दी न मालूम हुई।

स्नान के बाद मन्दिर की ओर चला। रास्ते में बर्फ पर भी चलना पड़ा। मन्दिर बहुत ही सुन्दर है। सीढ़ियाँ तय कर लेने के बाद ऊपर मन्दिर के चारों ओर काफी अच्छा खुला हुआ पक्का फरश मिला। यदि मेघ न छाये होते तो वहाँ से काफी बढ़िया दृश्य देखने को मिलता। लेकिन "किस्मत जुदी-जुदी है, तकदीर अपनी-अपनी।" किया क्या जाय! ऊपर कालभैरव, पार्वती तथा तुंगनाथ इत्यादि के दर्शन किये। धर्मशिला पर जीवन सुफल किया।

खाना-पीना तब तक न होने पाया था। सलाह थी उसी
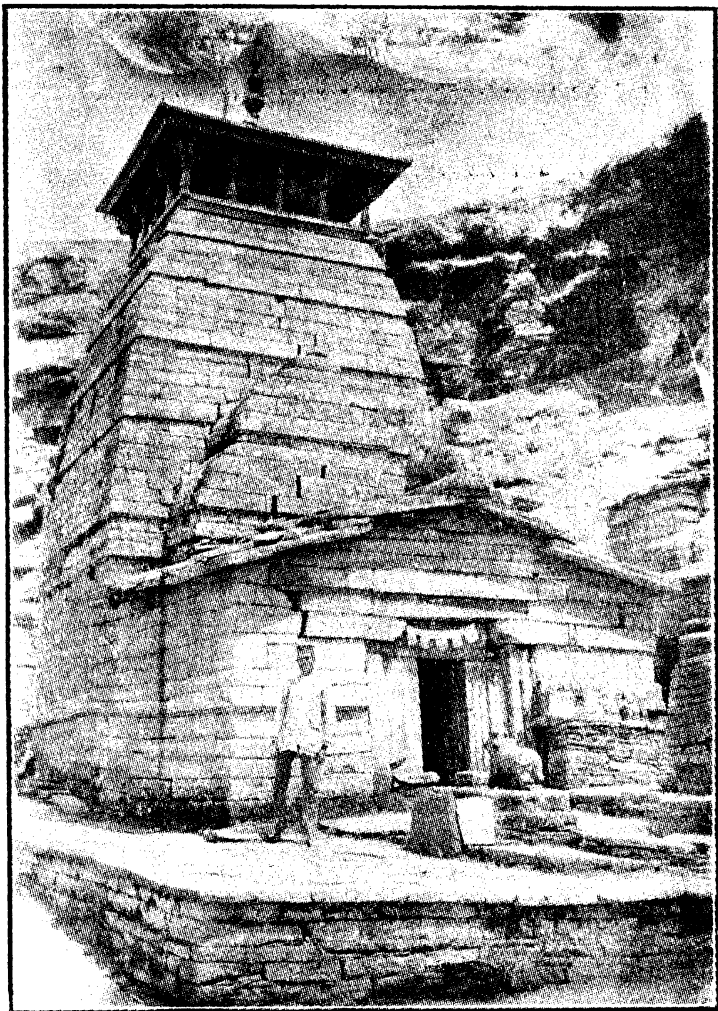
तुङ्गनाथ का मंदिर (पृष्ठ १४२)

समय चल पड़ने की। अतः भोजन बनाने का बखेड़ा छोड़ दिया गया। नीचे हलवाई की दूकान पर अच्छी पूरी बन रही थी। धर्मशाला आकर हमने वही खाई। तबतक बाहर जोरों से पानी बरसने लगा। सर्दी और भी बढ़ गई। बस हमलोग चुपचाप तीन-तीन चार-चार कम्बल ओढ़कर कमरे में ही पड़े रहे। अँगीठी सुलग रही थी!

कुछ देर बाद जब वर्षा बन्द हो गई, भगवान् तुंगनाथ को प्रणाम कर हमलोग नीचे की ओर अग्रसर हुए। इस बार रास्ता दूसरा था—सीधी उतराई का। आते समय जैसी बुरी चढ़ाई मिली थी, लौटते समय वैसी ही बुरी उतराई मिली। किन्तु हाँ, बन्दर-मेल की उतराई से इसका मुकाबला नहीं हो सकता था।

वर्षा के कारण रास्ता कुछ भड़क गया था और जगह-जगह सड़क को मरम्मत हो रही थी। किन्तु उत्थान की अपेक्षा पतन का मार्ग अधिक सुगम होता है। अतः उतरने में अधिक देर न लगी। लगभग ढाई मील के उतार के बाद नीचे आम सड़क दिखलाई दी, जिसके पार्श्व में 'भुलकण' नाम की एक छोटी-सी अच्छी चट्टी थी।

अभी कुछ इधर हो थे, तबतक किसीने जोर से पुकारकर कहा—"खबरदार, बाबूजी, आगे मत बढ़ो। ऊपर से पत्थर गिर रहा है।" मैं वहीं ठिठक गया। देखा, एक आदमी ऊपर कुछ काट रहा है। नीचेवाले ने पुकारकर उसे रुक जाने को कहा। "भागो, भागो, जल्दी भागो।" बाबा रे बाबा! बड़ी तेजी से मैं उस रास्ते से भागा; किन्तु कलेजा धड़क रहा था।

भुलकण में अपने और लोग विश्राम कर रहे थे, मैं भी

कुछ देर ठहर गया। चारों ओर सुन्दर हरियाली थी। किन्तु ऊपर आसमान का रंग तब भी खराब था। थोड़ी देर बाद फिर आगे चल पड़ा। वर्षा शुरू हुई। किन्तु अधिक देर न ठहरी। फिर भी हल्की झींसी कुछ देर तक पड़ती ही रही। मैं आगे बढ़ता गया।

आसपास के दृश्य बड़े ही रमणीय थे। किन्तु उन्हें देखने की फ़ुर्सत किसे थी? इधर वर्षा के कारण रास्ते में फिसलन भी बहुत अधिक हो गई थी। बच-बचकर चलना पड़ता था।

कुछ और आगे बढ़ने पर वर्षा बिल्कुल बन्द हो गई। आसमान भी कुछ साफ हो गया। उस घनी हरियाली में सूरज की सुनहरी किरणों का आभास जगह-जगह दिखलाई दिया। सचमुच सुन्दर दृश्य था।

सघन जंगल, चारों ओर बड़े-बड़े वृक्ष—बिल्कुल हरेभरे। रास्ता उतराई का—उस पर फिसलन। समय तीसरे पहर दिन का। मैं निर्द्वन्द्व आगे बढ़ा जा रहा था।

थोड़ी दूर—शायद आधे फर्लाङ्ग तक—राह कुछ सीधी मिली। सड़क के पास ही कुछ छोटे-छोटे टीले थे। सामने था एक बहुत ही मोटा धड़वाला सघन वृक्ष। तब तक क्या देखता हूँ कि सामने से एक जंगली कुत्ता चला आ रहा है—मुँह में मांस का एक बड़ा-सा टुकड़ा लिये हुए, जिससे खून टपक रहा था! अभी-अभी बिल्कुल ताजा शिकार करके चला आ रहा था—छोटे बाघ के समान। सुनसान जंगल—अकेला पथिक। मेरा जी दहल उठा और मैं रास्ता छोड़कर अलग हट गया। वह पेड़ की एक ओर से गया, मैं दूसरी ओर से।

जंगल और भी सघन हो चला। किन्तु हमने सुन रक्खा था कि इस जंगल में सिंह-बाघ इत्यादि हिंसक पशुओं का भय नहीं है। इसीसे हिम्मत बाँधे अपनी राह चलता रहा। साथी या तो पीछे थे अथवा आगे।

रास्ता बिल्कुल उतराई का था। फिसलन से बचते-बचते आफत आ गई थी। तबीयत बिल्कुल ऊब उठी थी। जी में होता था कि कब पड़ाव पर पहुँचें। फर्लाङ्ग का पत्थर देखता हुआ आगे चला जा रहा था। भुलकण से पौने तीन मील आगे पांगरवासा (जंगल-चट्टी) पर पड़ाव डालने की बात थी।

आखिर किसी-किसी तरह राम-राम करते हुए वहाँ तक पहुँचा। चट्टी नीचे थी, काफी गहराई में। सोच ही रहा था कि नीचे उतर चलूँ, तबतक अवतारसिंह की आवाज आई—"वे लोग तो आगे चले गये—मंडल-चट्टी—यहाँ से और तीन मील की दूरी पर; बोझा-कुली आदि सभी चले गये।"

मानों वज्र घहरा गया। मैं सर थाम वहीं बैठ गया।

तो क्या सवा तीन मील और चलना पड़ेगा? उफ्! तबीयत आगे जानेवालों पर चिढ़ उठी। अजीब आदमी हैं, जिन्हें हम पैदल चलनेवालों का कुछ खयाल ही न हुआ। झाजी तो तुङ्गनाथ गये ही नहीं थे और तिवारीजी गये थे झम्पान पर। उन्हें हमारी क्या फिक्र थी। इच्छा तो हुई कि आदमी भेजकर अपना सामान मँगा लूँ; किन्तु उसमें भी दिक्कत ही नजर आई। झुँझलाये हुए दिल की ये सारी सलाहें थीं। किन्तु कुछ देर ठहरने के बाद यही राय हुई कि आगे ही चला जाय; बीते जो अपने पर बीतना हो। मैंने लाठी उठाई, और फिर आगे चल पड़ा।

[४]

रास्ता बिल्कुल पिच्छिल था। चिकनी मिट्टी और कीचड़ से सारी राह लथपथ हो रही थी। बहुत सँभल-सँभलकर चलना पड़ता था—किनारे के पत्थरों पर पैर धरकर। मेरे साथ ही और दो-तीन दूसरे यात्री जा रहे थे। एक जगह एक युवक का पैर फिसला और वह 'ओफ्' करके धड़ाम-से नीचे गिरा—औंधे मुँह फिसलकर। हाथ की लालटेन दूर जा पड़ी। घुटने में चोट आई। किन्तु सर बच गया। दो पत्थरों के बीच में पड़ा था। मैं और भी सावधानी के साथ बच-बचकर चलने लगा।

उस समय मैं बिल्कुल अकेला था। डाँडियों के साथ चल नहीं सकता था और नौकर-चाकर सभी डाँडियों के ही साथ थे। उधर हमारी यात्रा के साथी बूढ़े काकाजी कहीं और पीछे रह गये थे। तुङ्गनाथ की उतराई में ही उनका साथ छूट गया था और तब से उतराई-ही-उतराई मिलती गई। वे फिर हमारा साथ पकड़ भी न सके।

अब मैंने पगडंडियों की शरण ली। जहाँ-कहीं 'शार्ट-कट' नजर आया, झट उसीसे नीचे की ओर उतर चला। उसमें 'एडवेंचर' का पुट होने के कारण आनन्द भी काफी आया। उसके अलावा पत्तियों और पेड़ों की जड़ों के कारण फिसलन भी कम मिली। पगडंडी होने के कारण लोगों का यातायात भी कम था। कहीं भी कीच न होने पाई थी।

रास्ते में चलने पर फिर जोश आ गया। झटपट मञ्जिल तय करता हुआ आगे बढ़ने लगा। जङ्गल रमणीक था। तुरत की वर्षा के कारण जगह-जगह झरने झर रहे थे—कहीं गंदे,

कहीं साफ। कभी कोई उधर से आता नजर आ जाता था, तो 'रॉबिन हुड' की याद आ जाती थी। आसमान बिल्कुल साफ हो गया था। दिन भी बीत चला था। एक जगह पेड़ों की चोटी पर अस्त होते हुए सूरज की किरणें भी दिखलाई दीं।

'मंडल' के पास पहुँचने पर अपने नेपाली कुली मिले। मजे में गौरीफल तोड़कर खा रहे थे। उधर मस्त होकर कोई मौज से गाना गा रहा था। बोझा पास ही पड़ा हुआ था। 'क्यों दाजू, यह क्या कर रहे हो?' मैंने यह एक नेपाली सम्बोधन सीख लिया था। उसे सुनकर नेपाली प्रसन्न हो जाते थे; क्योंकि 'दाजू' आदर-वाचक शब्द है, बड़े भाई के लिये प्रयुक्त होता है। मैंने भी जगह-जगह ठहरकर गौरीफल तोड़, उन्हें खाता हुआ आगे बढ़ा।

आखिर उतराई समाप्त हुई, लगभग नौ मील की। उधर मील का पत्थर भी मिला, जिससे मालूम हुआ कि चमोली भी अब सिर्फ नौ मील की ही दूरी पर रह गई है। सामने मंडल-चट्टी दिखलाई दी—अच्छी सुन्दर सी—बिल्कुल 'हैपी वैली' में। कुछ और आगे नदी की धारा थी, जिस पर एक सुन्दर पुल बना हुआ था। इधर पास ही बँगला था, जिसमें सुना कि कोई साहब टिका हुआ था—जर्मन था, अँगरेज था या अमेरिकन, इसका मुझे पता नहीं।

मैं आज की चलाई से बिल्कुल चूर-चूर हो गया था। जाते ही बेहोश-सा बिछावन पर गिर पड़ा। प्रिन्सिपल दयानिधिजी की दवा खाई। गरम पानी से पैर धुलाये। डांडीकुली भोपालसिंह से पाँव दबवाये। शौच भी नहीं गया। थकावट के मारे नींद

आ गई। लोगों ने जब खाने के लिये उठाया तब तबीयत कुछ हल्की मालूम हुई।

बाहर सुन्दर चाँदनी खिली हुई थी। खाने के बाद मैं जरा काकाजी के यहाँ चला गया। तिवारीजी भी वहीं थे। आज के सफर में उनकी भी पूरी दुर्दशा हुई। रास्ते की फिसलाहट के कारण दो-दो बार फिसल-फिसलकर गिरे थे। काकाजी सकुशल पहुँच गये थे; किन्तु जले-भुने थे वे भी।

वहीं सुना कि भाजी आदि का विचार है कल दिन में चमोली पहुँच जाने का—नौ मील, और रात में सियासैन ठहरने का—सात मील; कुल सोलह मील। हमलोगों का विचार था दिन में गोपेश्वर ठहरने का और रात में मठ—कुल बारह मील। मैंने निश्चय कर लिया कि अपने ही विचार पर दृढ़ रहूँगा।

卐

फिर अलकनन्दा

[१]

मंडल से गोपेश्वर सिर्फ सवा छः मील है। रास्ता भी कठिन नहीं, बीच में सिर्फ एक मील की चढ़ाई मिलती है। बाकी राह सीधी और उतार की है। आशा थी कि शीघ्र ही वहाँ पहुँचकर आगेवाले पड़ाव तक पहुँच जायँगे। मेरी इच्छा थी कि उस दिन का पड़ाव गोपेश्वर में ही डाला जाय; क्योंकि एक तो गोपेश्वर तीर्थस्थान है, दूसरे कल तुंगनाथ की चढ़ाई-उतराई ने बिल्कुल चूर-चूर कर दिया था। अतः लम्बा सफर करने की हिम्मत नहीं होती थी। इसी से मैंने आज सुबह भी झाजी से कह दिया कि दिन में गोपेश्वर ठहरना ही ठीक होगा। उन्होंने मान भी लिया; किन्तु विश्वास नहीं होता था कि वे वहाँ ठहरेंगे, जल्दी ही गोपेश्वर पहुँच जायँगे; फिर आगे की दौड़ लगा देंगे—चमोली तक।

कल की थकावट के कारण रात में नींद बड़े जोर की आई। दूसरे दिन सुबह बहुत देर से उठा। पैदल चलनेवाले प्रायः सभी यात्री तब तक रवाना हो चुके थे। मैं आज सबके बाद चला। शंकरसिंह मेरे साथ था।

पुल पार कर कुछ दूर तक पहाड़ी नदी के किनारे-किनारे चलना पड़ा। दो मील तक राह बिल्कुल सीधी मिली। सड़क

के पास ही गौरीफल लगे हुए थे। शंकर ने कुछ फल तोड़कर खिलाये।

वैरागना-(आराम)-चट्टी दूसरे मील पर मिली। वहीं हल्की-सी चढ़ाई शुरू हो गई। थोड़ी ही दूर बाद हमारे बूढ़े काकाजी मिले। धीरे-धीरे बढ़ते जा रहे थे। उन्हें रास्ते में पाकर बहुत आनन्द हुआ।

खोलटो-चट्टी तक चढ़ाई मिली और उसके बाद उतार। उसके डेढ़ मील बाद सेंठाना-चट्टी मिली, जो काफी बड़ी और ठहरने लायक है। आज चलने में पूरा आनन्द आया। रास्ता सुगम और रमणीक था। बीच-बीच में छोटे-छोटे सुन्दर-सुन्दर झरने मिलते गये, जिनपर छोटे-छोटे पुल बने हुए थे। संगमरमर के समान चिकने-चिकने पत्थर तो बहुत ही दिखलाई पड़े। लोगों ने खेतों का घेरा भी उन्हीं पत्थरों से बना रक्खा था!

सेंठाना से डेढ़ मील और आगे चलने पर गोपेश्वर मिला। बाजार और बस्ती अच्छी दिखलाई दी। चौक के सामने ही अच्छा भव्य शिव-मन्दिर था। वहाँ पहुँचने पर मुझे मालूम हुआ कि झाजी और तिवारीजी आगे चले ही गये चमोली को। आखिर जो सोचा था वही हुआ! धूप तबतक काफी चढ़ आई थी। अब हमारी इच्छा आगे बढ़ने की न हुई। हमारे दल की डाँडियाँ पीछे ही थीं। हमने सोचा कि उन्हें यहीं रोक लेंगे।

सामने की एक दूकान पर कुछ देर ठहर गया। वहीं एक सज्जन मिले। मेरे पास रावजी (गुरुवर नरदेव शास्त्री) की एक चिट्ठी थी, गोपेश्वर के श्रीकेशवानन्दजी और तुलारामजी पाठक के नाम। मैंने वह पत्र उपर्युक्त सज्जन को दिखलाकर

उनके विषय में दरियाफ्त किया। संयोगवश वे पंडित तुलारामजी पाठक के छोटे भाई ही निकले—पंडित शंकरदत्तजी पाठक। उन्होंने मुझे ले जाकर पंडित तुलारामजी से मिला दिया। सड़क के किनारे ही अपने कमरे में, सामने की ओर चिक डाले हुए, पंडित तुलारामजी बैठकर अखबार पढ़ रहे थे। वे बड़े ही प्रेम से हमसे मिले और उन्होंने हमारे आराम का सब प्रबन्ध भी कर दिया।

गोपेश्वर में पानी का कुछ कष्ट है। सरकार की ओर से उसका कोई भी इन्तजाम नहीं है। पास ही इतने झरने होते हुए भी उसने यहाँ कोई कल नहीं लगाई है। गोपेश्वर-जैसे तीर्थ-स्थान के प्रति उसकी यह उपेक्षा बहुत खटकी।

पंडित तुलारामजी के कारण हमें पानी का भी बहुत कष्ट न होने पाया; किन्तु यही सुविधा सभी यात्रियों को तो नहीं न मिल सकती ? इसी का परिणाम यह होता है कि लोग यहाँ ठहरते ही नहीं ; देवता दर्शन कर आगे चले जाते हैं—चमोली की ओर। इसीसे शायद तिवारीजी और झाजी आगे चले गये, और अब हमें उनका जाना उचित ही मालूम हुआ।

इस पहाड़ी प्रदेश में कुँए बहुत ही कम होते हैं; किन्तु गोपेश्वर में हमें एक कुँआ मिला। बस्ती का काम उसीसे चलता है; किन्तु उसका पानी उतना अच्छा नहीं है। थोड़ी ही दूर हट-कर वैतरणी-कुंड है, जहाँ से लोग पीने का पानी ले आया करते हैं। पंडितजी ने हमारे लिये भी वही प्रबन्ध कर दिया, हमें दूकान के पास ही एक दोमञ्जिले मकान में ठहराया।

पंडित तुलारामजी वयोवृद्ध सज्जन हैं। उन्होंने हमारा सत्कार

अच्छी तरह किया और हमें किसी प्रकार का भी कष्ट न होने दिया। उन्होंने रसोई बनाने के लिये बर्त्तन और साग-केला आदि तरकारी के लिये भेज दिया। घर के अँचार भी खाने के लिये भेज दिये।

इस प्रकार आराम का सब प्रबन्ध हो जाने पर हमलोग वैतरणी-कुंड पर स्नान के लिये गये—उसी ओर जिस ओर से आये थे। वहाँ अच्छी सुन्दर-सी तीन धाराएँ नल द्वारा हाथी-शुंडों से गिरती हैं। सामने ही सुन्दर कुंड है, जिसमें तैरती हुई मछलियाँ बड़ी सुन्दर दिखलाई देती हैं।

वैतरणी पर दान-संकल्पादि कर हमने बड़े आनन्द से स्नान किया। मेरा अनुमान है कि यह वैतरणी वही वैतरणी है, जिसका जिक्र पुस्तकों में रुद्रनाथ के स्थान के सम्बन्ध में किया गया है। यात्री वहाँ मंडल से चौदह मील की राह तय करके जाते हैं और फिर सात मील की उतराई से गोपेश्वर लौट आते हैं।

वैतरणी-कुंड के पास ही लक्ष्मीनारायणजी और महादेवजी के छोटे-छोटे मन्दिर हैं, जिनके दर्शन कर हम गोपेश्वर-महादेव के दर्शन के लिये गये। अच्छा बड़ा-सा अहाता है इस मन्दिर का। सबसे पहले रावलजी की गद्दी मिलती है। उसके बाद ही ऊँचा-सा पत्थर का मन्दिर।

सबसे पहले चिन्तामणि गणेश के दर्शन हुए। कल्पवृक्ष का मैंने खयाल नहीं किया—शायद सामने ही था। किन्तु वह ऊँचा-सा त्रिशूल देखा, जिसे लोग परशुरामजी का फरसा बतलाते हैं। उसमें कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं देखी। उसमें प्राचीन लिपि में न जाने क्या-क्या लिखा हुआ था, जिसे मैं पढ़ न सका।
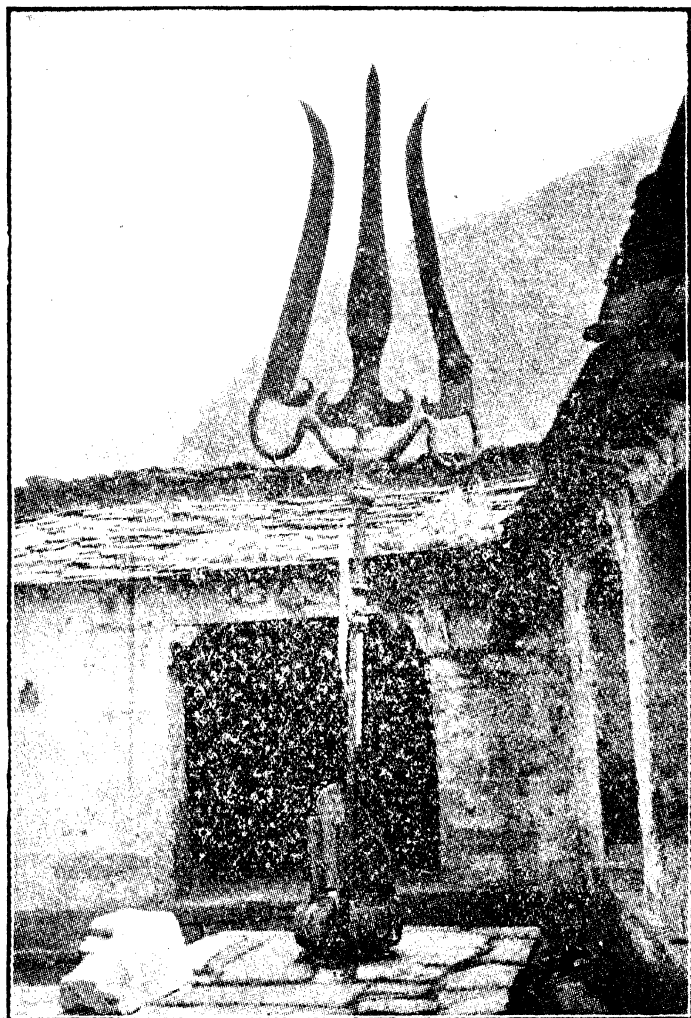
विशाल त्रिशूल (पृष्ठ १५२)

महादेव का दर्शन बड़ा ही भव्य है। सुन्दर शान्त शिव-मन्दिर है। पार्वती का भी दर्शन किया। उसके बाद रावलजी की गद्दी पर गया। वहाँ एक चपरासी के सिवा और किसीको न देखा। अच्छी ठाटदार जगह है। वहाँ मुकुट आदि का ठाट देख आया।

भूख लग रही थी। आकर खाना खाया। काफी स्वादिष्ट तथा मधुर मालूम हुआ। खाने के बाद आराम किया, बाहर मक्खियों का उपद्रव था; अतः एक छोटी-सी अँधेरी कोठरी में बिछावन बिछाकर सो रहा।

उठने के बाद मुँह-हाथ धोकर पंडित तुलारामजी से बिदा माँगने गया। बातों के सिलसिले में मालूम हुआ कि वे कभी 'सर्वेयर' थे और काशी इत्यादि में भी रह चुके हैं। वहीं 'प्रताप' में मैंने अलवरेन्द्र के गद्दी-त्याग का भी समाचार पढ़ा।

पंडित तुलारामजी ने अपने भाई श्रीकेशवानन्दजी द्वारा लिखित 'योगचन्द्रोदय' नाम की एक पुस्तक भी दी, जो मुझे बहुत ही उपयोगी और शिक्षाप्रद जँची। चलते समय उन्होंने हमसे प्रार्थना भी की कि हमलोग, यात्री की हैसियत से, डिप्टी-कमिश्नर (गढ़वाल) के यहाँ, गोपेश्वर में पीने के पानी का प्रबन्ध कर देने के लिये, पत्र लिख दें। वास्तव में गोपेश्वर-जैसे तीर्थस्थान में पानी का समुचित प्रबन्ध न होना सरकार के लिये बड़े ही कलंक की बात है।

[२]

गोपेश्वर से चलने पर अभी थोड़ी ही मञ्जिल तय कर पाये होंगे कि तबतक पानी बरसना शुरू हो गया। काकाजी साथ थे।

पानी का सामना करने के लिये हम दोनों ही ने अपना-अपना छाता खोल लिया; किन्तु वर्षा का वेग बढ़ता ही गया। सामने सड़क पर पानी की धारा बह चली। जगह-जगह फिसलन और रास्ता उतार का! अतः सावधानी से चलना पड़ता था। कहीं टिकने की भी जगह न थी, इससे और भी परेशानी मालूम हुई।

हमलोग लगभग पौने दो मील चल चुके थे। सवा मील और आगे चलने से चमोली मिलती; किन्तु यहाँ बीच राह में ही वर्षा ने गिरफ्तार कर लिया। तबतक संयोगवश एक मोड़ के पास, जहाँ हल्की-सी उतराई मिलती है, माँ इत्यादि दिखलाई पड़ीं। डांडी-कुलियों ने आवाज दी। मैंने देखा कि वे लोग पहाड़ की एक गुफा के नीचे छिपे हुए हैं। मकान की छत के समान ऊपर से एक बड़ा-सा शिलाखंड निकला हुआ था, जिसके कारण वर्षा से बिल्कुल बचाव था। कुलियों ने उसे बिल्कुल निरापद बतलाया; किन्तु थी वह जगह खतरनाक। वहाँ से लौटकर आ जाने के कुछ दिन बाद मैंने सुना कि ऐसी ही वर्षा के अवसर पर—जब कुछ यात्री वैसे ही एक स्थान पर टिके थे—ऊपर की छत गिर पड़ी और वे बेचारे वहीं पिसकर रह गये। मेरा अपना तो अनुमान यही है कि वह जगह वही रही होगी। खैर, हमलोगों के भाग्य अच्छे थे, हमलोगों ने मजे में वर्षा वहीं काट दी।

पानी कम होने पर हम वहाँ से चले। जितनी देर वहाँ ठहरे, वही बहुत थी। पत्थर गिरने की आशंका से डिप्टीसाहब की तो यही राय थी कि उस वर्षा में ही वहाँ से निकल चला जाय; किन्तु हमलोगों ने फिसलन का डर बतलाया। वर्षा इतने

जोर की थी कि बाहर निकलने की हिम्मत न होती थी, लाचार हो उन्हें भी वहीं रुकना पड़ा। 'इधर कुआँ है, उधर है खाई।' किया क्या जाय? फिर भी वे हटकर कुछ किनारे की ही ओर बैठ रहे। उधर वे दुष्ट डांडी-कुली ऐसे शरारती थे कि ख्वाहमख्वाह पत्थर फेंककर उन्हें डराना चाहते थे; किन्तु मैंने उन्हें मना किया।

जब हमलोग वहाँ से चले, तब भी पानी बरस ही रहा था; किन्तु हल्की-सी झींसी थी। सड़क के आरपार जगह-जगह बड़ी मोटी-मोटी धाराएँ बह रही थीं; किन्तु रास्ता अच्छा था। इतना पानी बरसने पर भी कीचड़ का कहीं नाम न था।

थोड़ी दूर चलने पर उतराई समाप्त हो गई और हम फिर पहुँच गये अलकनन्दा के तट पर। वही गँदला पानी वेग से बह रहा था। सामने ही वह राह भी दिखलाई दी, जो हरिद्वार से बदरीनाथ जाती है और जिसका साथ हमने रुद्रप्रयाग में छोड़ा था। उसे देखकर ऐसी प्रसन्नता मालूम हुई मानों मुद्दत का बिछुड़ा हुआ कोई साथी मिल गया हो। चमोली के पुल पर वह राह मेरी राह से मिल गई। पुल के दूसरी ओर चमोली थी, जिसे 'लालसांगा' भी कहते हैं। उसके पक्के-पक्के मकान दूर से ही दिखाई दिये। सरकारी कचहरी, अस्पताल इत्यादि अच्छे बने हुए हैं। गढ़वाल का वह सबडिवीजन है और एक सबडिवीजनल अफसर वहाँ रहते हैं। किन्तु हमारी राह इसी ओर से गई थी; अतः हम उस पार नहीं गये। काफी देर हो गई थी। उस पार जाने से और भी देर की सम्भावना थी। इसीसे हमने उधर जाने का विचार ही नहीं किया। सोचा कि फिर तो लौटती बार इसी रास्ते से जाना ही है—चमोली को देख लेंगे!

बस यही सब सोचता हुआ और इधर-उधर के सुन्दर दृश्य देखता हुआ मैं विना रुके ही आगे चल पड़ा—उसी पुरानी नदी के किनारे-किनारे श्रीबदरीनारायण की ओर। ग्यारह दिनों के बाद एक बार फिर अलकनन्दा का साथ हुआ।

[३]

चमोली के पुल के पास से श्रीबदरीनारायण-पुरी साढ़े सैंतालीस मील है। राह अलकनन्दा के किनारे-किनारे चली गई है। लगभग आठ मील पर हाट-चट्टी के बाद अलकनन्दा का पुल मिलता है। फिर चढ़ाई शुरू होती है और अलकनन्दा बहुत नीचे पड़ जाती है। फिर भी नदी की दिव्य धारा बराबर आँखों के ही सामने रहती है। विष्णु-प्रयाग में, जहाँ अलकनन्दा और धौली-गङ्गा का संगम होता है, अलकनन्दा का किनारा फिर मिल जाता है और तब से बराबर उसका साथ रहता है। श्रीबदरीनाथ-धाम से भी आगे अलकनन्दा जाती है—अलकापुरी और गन्धमादन-पर्वत तक। किन्तु अपना सौभाग्य श्रीबदरीशपुरी से आगे बढ़ने का न हुआ। अस्तु, हमें ही अलकनन्दा का साथ छोड़ना पड़ा; अलकनन्दा ने हमारा साथ नहीं छोड़ा।

उस दिन सन्ध्या समय, जब हम चमोली के पुल के पास से चले, वर्षा के कारण मौसम बहुत अच्छा हो गया था। गर्मी, जिसकी खास शिकायत है, चमोली में हमलोगों को कतई मालूम न हुई। आगे की ओर जाते समय हमें बहुत-से यात्री मिले, जो बदरीनारायण से लौटे चले आ रहे थे। प्रायः प्रत्येक के पास काँटेदार लकड़ी की एक छड़ी अथवा डंडा था, जो इस यात्रा की खास सौगात है। कइयों के पास बाँस की सुन्दर

टोकरियाँ भी देखने में आईं, जो इधर की विशेषता है। जब हम एक दूसरे से मिलते थे, तब 'एक बार बोलो बदरीविशाल लाल की जय' 'बाबा केदारनाथ की जय' 'गरुड भगवान् की जय' अवश्य हो जाती थी। उस समय बहुत ही आनन्द आता था।

दो मील चलने पर मठचट्टी मिली, जहाँ रात में ठहरने का प्रोग्राम था। चट्टी अत्यन्त रमणीक है। चारों ओर सुन्दर बाग हैं। आम के पेड़ों की छाया है। पास ही एक बगीचे में बेले के फूल खिले हुए थे। इतने दिनों बाद उन चिर-परिचित फूलों को देखकर चित्त बहुत ही प्रसन्न हुआ।

एक अच्छी-सी जगह देखकर हमलोग टिक गये—ऊपर दोमंजिले पर। सामने कुछ खुली हुई जगह थी। उसके बाद सड़क और सड़क पर पानी का नल। थोड़ी ही दूर पर अलक-नन्दा घहरा रही थी। उस दिन के बाद से बहुत दिनों तक, रोज-रोज चौबीसों घंटे, जबतक जगे रहते थे तबतक, बराबर उसका वज्रगम्भीर निनाद सुनने में आता रहा।

खा-पीकर हम ऊपर आराम करने के लिये लेट गये। कुछ देर बाद चमोलीवाले भी आ गये; किन्तु झाजी और तिवारी-जी नहीं आ सके। बलदेव की तबीयत खराब हो गई थी। सेठ पंडाजी से मालूम हुआ कि चमोली में उन लोगों को बहुत तकलीफ हुई। स्थान और पानी दोनों ही का कष्ट था। अच्छा हुआ जो हम वहाँ नहीं गये।

पंडाजी अपने पड़ाव पर चले गये, जहाँ कलक्टर साहब की स्त्री ठहरी हुई थीं। मैं सो रहा। उस समय चन्द्रमा की

किरणें पेड़ों से छन-छनकर हमारे मुँह पर पड़ रही थीं। बहुत दिनों बाद वैसी विमल चाँदनी देखकर चित्त पुलकित हो उठा।

[४]

तीसरी जून को सुबह कुछ देर से उठा। फिर भी आसमान बिल्कुल साफ नहीं हुआ था। शौच के समय बिच्छू-घास छू गई थी; किन्तु बहुत तकलीफ न हुई। अमृतधारा की शीशी पास ही थी। उसे झट मल देने से कष्ट कम हो गया।

इधर पहाड़ी सफर में इन बिच्छू-घासों का बहुत उपद्रव है। बर्फीली जगहों को छोड़कर प्रायः प्रत्येक स्थान में ये विराजमान थीं। इनमें आफत यह होती है कि बदन से जरा-सा भी छू जाने पर बिच्छू के डङ्क के समान ही बिसबिसाहट होती है। इसीसे इनसे बहुत बचकर चलना होता है। बहुत-से पहाड़ी तो इस घास की भाजी भी खाते हैं, जो बहुत अधिक गर्म होती है। लोगों ने बतलाया कि इसके पास ही एक दूसरी घास भी उगी हुई होती है, जिसे लगाने से इसकी तकलीफ दूर हो जाती है; किन्तु मुझे उसका पता न चला।

मठ-चट्टी से चलने पर आधे फर्लाङ्ग पर एक पुल मिला—१३८ वें मील पर। उसके बाद कुछ चढ़ाई मिली। फिर रास्ता सीधा और उतार का मिला। १३९ वें मील पर छिनका-चट्टी मिली, जो काफी अच्छी और सुन्दर थी। काकाजी ने वहाँ एक दूकान पर कुछ केले खरीदे। उनके असिस्टेंट रामअसीस सिंह को आँव पड़ गया था। मैंने उन्हें चौबेजीवाली दवा दे दी, जिससे उन्हें काफी लाभ हुआ। वहीं छिनका-चट्टी पर एक सफेद चमड़ेवाला साहब मिला, जो घोड़े की पीठ पर सवार सैर के

लिये बदरीनारायण की ओर जा रहा था। उसीके साथ एक अँगरेजीदाँ साधु महाशय भी थे, जो साहब से बातें करने के कारण एक विशेष गर्व का अनुभव कर रहे थे!

छिनका से कुछ ही दूर आगे बौंला-चट्टी मिली, जो बहुत ही छोटी थी। १४२ वें मील पर सियासैन और १४३ वें पर हाट अथवा नारायण-चट्टी मिली। दोनों चट्टियाँ काफी बड़ी और रमणीक थीं। उनमें से सियासैन में और भी अधिक रौनक देखने में आई।

इधर रास्ता बहुत ही सीधा मिला, किन्तु दृश्य उतने सुन्दर नहीं थे। पहाड़ों पर पेड़ों की वह बहार नहीं थी, जो केदारनाथ की राह में मिली थी। अधिकतर रास्ते में नंगे पहाड़ ही खड़े मिले; किन्तु साथ ही चलती हुई अलकनन्दा के कारण जी बहलता रहा, यद्यपि इस नदी का वेग बहुत ही प्रबल था और यों ही वह बहुत भयावनी मालूम हो रही थी।

एक जगह नदी-किनारे शिलाखंड पर बैठा हुआ एक पहाड़ी युवक धीरे-धीरे गा रहा था—

"छीन सकती है नहीं सरकार वन्देमातरम्।
हम गरीबों के गले का हार वन्देमातरम्।"

सामने अलकनन्दा बह रही थी। उस पर्वत-प्रान्त में पहाड़ी युवक के उस गीत का हमपर बहुत प्रभाव पड़ा।

कुछ ही दूर आगे चलने पर अलकनन्दा का पुल मिला। वहाँ पर्वत की छाया में हम कुछ देर बैठे अलकनन्दा का दृश्य देखते रहे। दोनों तरफ चिकने-चिकने पत्थर की दीवारें खड़ी

थीं, जिनके बीच से आती हुई अलकनन्दा बहुत ही भली मालूम हो रही थी। जान पड़ता था मानों किसी अत्यन्त सुदृढ़ दुर्ग-प्राचीर के चारों ओर बहती हुई नहर हो, और वह पुल बिल्कुल 'ड्रा ब्रिज' सा मालूम हुआ।

उसके बाद काफी कठिन चढ़ाई मिली। पगडंडी का भी रास्ता था; किन्तु हमने सीधी राह से ही जाना उचित समझा। एक मील से अधिक की चढ़ाई थी। बीच-बीच में कुछ भोटिये मिले, जो अपने परिवार और मवेशियों के साथ रास्ते के पास ही खेमे डाले सस्ता आटा बेच रहे थे।

हम १४४ वें मील का पत्थर पार कर चुके थे। उधर नीचे पगडंडी से हमारा पहाड़ी असिस्टेंट शंकरसिंह आता दिखलाई दिया। पसीने से बिल्कुल तर था। थोड़ी देर बाद वह प्रधान पथ पर हमारे साथ हो गया और हम दोनों साथ ही चले। काकाजी पीछे-पीछे आ रहे थे।

थोड़ी दूर आगे देखा, सड़क पर एक खासी भीड़-सी इकट्ठी थी और वहाँ से किसी के फूट-फूट रोने की आवाज सुनाई दे रही थी। मैंने शंकर से पूछा कि क्या बात है। उसने बड़े ही सहज भाव से उत्तर दिया—"कोई लड़का पहाड़ से गिर गया होगा।" मानों उसके लिये यह कोई बात ही न थी!

तबतक मैं वहाँ पहुँच गया। देखा, एक बच्चा बेहोश पड़ा हुआ है। उसके सर से खून की धारा बह रही है, सारा मुँह और कपड़ा खून से तर हो गया है, उसे पकड़कर उसके आत्मीय विलाप कर रहे हैं। उसकी छोटी बहन का करुण क्रन्दन सुनने के लिये काफी कड़ा कलेजा चाहिये था। मैं वह दृश्य

बर्दाश्त न कर सका। कोई उपाय भी नहीं मालूम था, जिससे उसकी सहायता करता। विह्वल मन से आगे बढ़ गया।

हमारे साथ ही छपरे की कुछ औरतें जा रही थीं। उन्हींसे विस्तृत विवरण विदित हुआ। उन्होंने कहा कि सड़क के किनारे वे दोनों भाई-बहन यात्रियों को देखकर सुई-डोरा माँगने पहुँच गये थे। भाई को भिक्षा मिल चुकी थी और वह बहन के लिये चिरौरी कर रहा था। तबतक ऊपर से एक बड़ा-सा पत्थर का टुकड़ा लुढ़कता हुआ आया और उछलकर उसकी कनपटी पर लगा। लड़के का सर फट गया और वह तड़पकर वहीं बेहोश हो गया। ऊपर चरती हुई गायों और बकरियों के कारण इन पहाड़ों में ऐसी घटनाएँ अक्सर हो जाया करती हैं।

काकाजी थोड़ी ही देर बाद आये। उनसे मालूम हुआ कि लड़का मर गया और उसके पिता इत्यादि उसकी लाश उठाये लिये जा रहे थे। एक ही क्षण में क्या से क्या हो गया! इसीको तो 'अनभ्र वज्रपात' कहते हैं। जिन्दगी का क्या ठिकाना? विशेषत: इन बीहड़ पहाड़ों में!

आह! किस कच्चे धागे से हमारा जीवन गुँथा हुआ है!

हे भगवान्! तू ही रक्षक है, नहीं यहाँ तो पग-पग पर प्राणों का संकट है। पर्वत-पथ की जिस भयंकरता का मैं पहले अनुमान करता था, उसका प्रत्यक्ष उदाहरण देखकर एक बार दिल दहल-सा गया।

१४५ वें मील के बाद कुछ दूर चलने पर पीपल-कोटि मिली। मोड़ पर एक सुन्दर लाल फूलोंवाला कनेर का पेड़ था और बीच में एक सघन पीपल। बाजार बहुत सुन्दर था; काफी चहल-

पहल थी। दूकानें अच्छी और सजी हुई मिलीं। सामान भी प्रायः प्रत्येक प्रकार के दिखलाई पड़े। जरूरी चीजों के अलावा शिलाजीत, कस्तूरी, मृगचर्म, चमरी गाय के पुच्छ-व्यजन, पहाड़ी बूटियाँ, किताबें आदि बहुत-सी चीजें बिक रही थीं। बाजार घूमता हुआ मैं एक दूकान पर पहुँचा। दूकानदार अल्मोड़ा-निवासी थे। नाम था श्रीकिशोरीलाल साह। उनसे बातें कर चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। उनकी छोटी लड़की 'गंगा' से भी काफी मनोरञ्जन हुआ। गढ़ देश के इस स्थान पर अल्मोड़ेवालों का काफी आधिपत्य दिखलाई दिया।

यहाँ पानी की बड़ी किल्लत थी। नल थे जरूर, लेकिन जल का स्वाद इतना खराब था कि जी भरकर पीना मुश्किल था। ऐसा खराब पानी 'कांडी' के सिवा और कहीं न मिला था। दूर झरने से पानी मँगवाया, जो काफी ठंढा था; किन्तु स्वाद उसमें भी नहीं था।

खाने-पीने के बाद कुछ देर आराम करना चाहा; किन्तु कर न सका। इधर-उधर खत लिखे। चलते समय किशोरीलाल-जी ने तरबूज के कुछ कतरे खिलाये। उस सुदूर पहाड़ी प्रदेश में अपने भूप्रदेश का फल खाकर कितनी प्रसन्नता हुई, नहीं कह सकता। बहुत ही अधिक स्वाद मिला उस साधारण फल में, जो इस पहाड़ में अनमोल हो गया था।

पीपल-कोटि से आगे चार मील चलने पर गरुड़-गंगा मिली। रास्ता अच्छा था। कहीं ज्यादा चढ़ाव-उतार न मिला। अलक-नन्दा से हम बहुत अधिक ऊँचाई पर थे; किन्तु उसकी धारा साफ दिखलाई दे रही थी—वही मैली-कुचैली, भयावनी। जगह-

जगह पहाड़ से सुन्दर दूध-सी धाराएँ आकर उसमें मिल रही थीं; किन्तु अलकनन्दा बराबर जैसी-की-तैसी गन्दी ही मिली।

गरुड़-गंगा पहुँचने पर प्रधान पथ के पास ही बाबा काली कमलीवाले की धर्मशाला मिली; किन्तु लोगों की राय उस पार
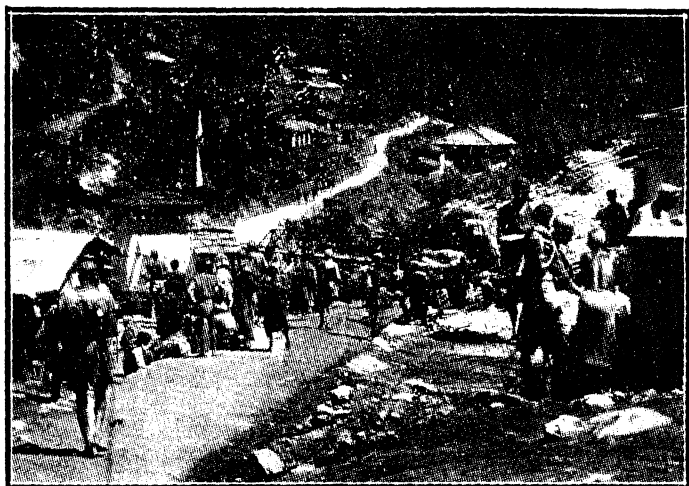
गुरुड़-गंगा

चलकर किसी चट्टी पर ठहरने की हुई। इधर पानी का कुछ कष्ट भी था। प्रधान पथ पर ही गरुड़-गंगा का पुल है, जिसके दोनों ओर बस्ती है—बिलकुल छोटी-सी। पुल पार ठीक १४८ मील पर गरुड भगवान् की काले पाषाण की भव्य मूर्त्ति है। नीचे बिल्कुल पतली-पतली, निर्मल झरने के समान ऊपर से हल्के-हल्के उतरती हुई, गरुड़-गंगा की दिव्य धारा बह रही थी।

जहाँ हमलोग ठहरे वहाँ से दृश्य बड़ा ही सुन्दर था। उस

पार पनचक्कियाँ चल रही थीं। बीच में गरुड़-गंगा की उज्ज्वल धारा थी—विशाल शिलाखंडों के ऊपर से और इधर-उधर से उछल-उछलकर आती हुई। रात में नैवेद्य बँटा। इस यात्रा में बराबर ही रात को गरुड भगवान् के नाम पर मिठाई बँटा करती है; और कुछ नहीं तो बताशा ही सही। फिर आज तो उनके स्थान पर ही थे। रात में पूरी-तरकारी खाई, जो काफी अच्छी मालूम हुई। नींद देर से आई। सुबह उठकर गरुड़-गंगा का विधि-विहित तीर्थ-स्नान था।

卐

श्रीबदरीनारायण-पथ

[१]

चौथी जून को सवेरे उठकर स्नान की तैयारी में लग गया। और लोगों ने दान के लिये थाली और मिठाई इत्यादि खरीदी थी; किन्तु मैंने द्रव्य तथा संकल्प से ही काम चलाना ठीक समझा। जब स्नान करने गया तब पहले घाटिया को एक पैसा देकर स्नान-संकल्प करना पड़ा। घाट के सामने ही कुछ गहरा कुंड-सा बन गया है; किन्तु वहाँ का पानी इतना निर्मल है कि नीचे के पत्थर साफ दिखलाई देते हैं।

लोग कहते हैं कि नहाते समय दाहिना हाथ पीछे कर जो पत्थर मिले उठा लेना चाहिये। फिर उसे गरुड भगवान् के चरणों में अथवा श्रीबदरीनारायण की गरुड-शिला में छुलाकर घर ले जाना चाहिये। लोगों का विश्वास है कि उस पत्थर के पास रहने से सर्प से रक्षा होती है और उसे धोकर पिला देने से साँप द्वारा काटा हुआ आदमी अच्छा हो जाता है। मैंने जब स्नान के समय दाहिना हाथ पीछे कर पत्थर उठाना चाहा तब हाथ में कुछ चूरे ही आये!

"कर्महीन सागर गये, जहाँ रतन का ढेर।
हाथ दिये घोंघे मिले, यही कर्म का फेर॥"

पंडे ने उन चूरों में से चुनकर दो कुछ अपेक्षाकृत बड़े पत्थर निकालकर रखने के लिये दिये; किन्तु मेरा मन छोटा हो गया। दूसरी बार निकालने की इजाजत नहीं थी, मन मसोसकर रह जाना पड़ा।

स्नान के बाद कपड़े बदलकर पंडे को चाँदी की दुअन्नी पेड़े के लिये और एक थाली बाद में देने का संकल्प किया। फिर नाश्ता कर वहाँ से चल पड़ा।

शुरू में ही कुछ चढ़ाई मिली। उसके बाद सीधी राह थी। दो मील पर टंगणी-चट्टी मिली—फिर उतार। और दो मील आगे चलने पर पाताल-गंगा मिली। उसके कुछ इधर ही राह थोड़ा खराब हो गई थी। अतः कुछ सावधानी से चलना पड़ा। इधर का रास्ता काफी सुन्दर मिला। जगह-जगह झरते हुए झरने और उनपर छोटे-छोटे पुल। चारों ओर चीड़ के सुन्दर जंगल, जिनकी भीनी-भीनी सुगन्ध से चित्त प्रसन्न हो जाता था।

पाताल-गंगा पर कुछ विश्राम किया। भूख लग रही थी। एक आने का पेड़ा लिया और पानी पिया। पाताल-गंगा का जल अपने थर्मोफ्लास्क में भर लिया। तबतक धूप काफी कड़ी हो गई थी, अतः चढ़ाई में बहुत तकलीफ मालूम हुई। इधर का पहाड़ भी बिल्कुल सूखा-सा था, इससे कहीं भी छाया न मिली। धूप से तबीयत परेशान हो चली थी। तबतक देखा कि कुछ पहाड़ी कुली ऊपर से किरमोरा तोड़कर ला रहे हैं। मैंने उनसे दो-एक गुच्छे ले लिये। उन्हें खाने से बराबर तरी आती रही।

१५५-३ पर गुलाबा-कोटि मिली, जहाँ ठहरने की बात थी। वहाँ पहुँचने पर मालूम हुआ कि हमारे पंडित मित्र फिर आगे-

वाली चट्टी पर चले गये; किन्तु धूप कड़ी हो जाने के कारण हमने वहीं टिक रहना उचित समझा।

बड़ी मुश्किल से किसी तरह एक चट्टी पर जगह मिल गई। वहाँ पहले से ही एक सज्जन ठहरे हुए थे। बाद को बातचीत से मालूम हुआ कि वे मेरे ही जिले (शाहाबाद) के चूड़ामनपुर के रहनेवाले हैं। नाम है अखौरी योगीन्द्रनारायण उर्फ लालमीना बाबू। वे डिप्टीसाहब के पूरे परिचित निकले। बदरीनारायण की यात्रा समाप्त कर वापस आ रहे थे। उनसे पथ की कठिनाई का जो समाचार सुनने में आया, उससे हमारे कई साथियों की हौलदिली और भी बढ़ गई।

गुलाबा-कोटि से चलने पर पहले तो चढ़ाई मिली। उसके बाद सीधी राह और उतार। बीच में बहुतेरे भोटिये अपना खेमा डाले पड़े थे। सड़क के पास ही एक-एक दो-दो आने में शिला-जीत बेच रहे थे।

कुम्हार-चट्टी लगभग दो मील (१५७–५) पर मिली। तीन फर्लाङ्ग और चलने पर एक बहुत ही सुन्दर झरना मिला। पहाड़ के ऊपर से आता हुआ वह बहुत सुन्दर दिखलाई दिया। फिर वहाँ से चढ़ाई मिली—कुछ देर बाद फिर सीधी राह और उतार। १६०–७ पर झड़कुला (हेलंग) मिला। वहीं आज रात का पड़ाव डाल दिया।

टिकने का सब प्रबन्ध ठीक कर लेने पर देखा कि माँ को ज्वर हो आया है। फेकू ने बतलाया कि गरुड-गंगा में नन्हे, बेबी, बब्बन, लल्लन इत्यादि घर-भर के लोगों के लिये फर्दन्-फर्दन् डुबकी लगाई थी। फिर भला सर्दी क्यों न हो और बुखार क्यों

न आवे ! सचमुच हमारे यहाँ को औरतें भी एक अजोब बला हैं ; शरीर का कुछ भी खयाल नहीं करतीं।

इस दूर देश में राह चलते समय माँ के बीमार हो जाने से तबीयत बहुत घबराई। उनका सारा उत्तरदायित्व लेकर यहाँ आया हूँ ; यदि कहीं कुछ हो गया तो कैसे लौटकर जाऊँगा और किसे मुँह दिखलाऊँगा। मैंने उन्हें बुखार की दवा दी। सरदर्द से वे कराह रही थीं। मेरे चित्त में बहुत चिन्ता हुई। बस यही जी में हुआ कि जल्दी इस दुर्गम देश से लौट जाते। तबीयत उचट गई।

कल उस लड़के की मृत्यु और आज माँ के बुखार ने मुझे बिल्कुल डरा दिया। रोज-रोज वही दृश्य देखते-देखते तबीयत भी ऊब गई थी। वे ही ऊँचे पहाड़, वैसे ही बीहड़ रास्ते, वही चढ़ाई-उतराई, वे ही झरने और वही नदी का शोर। ऐसा जान पड़ता था मानों जेल की चहार-दीवारी से घिरा होऊँ।

'मार्ग-प्रदीपिका' में पढ़ा था कि हेलंग से ही पंचकेदार (कल्पेश्वर) को राह गई है—पाँच मील। यहीं से तीन मील और आगे खनोटी के पास वृद्धबदरी के दर्शन होते हैं; किन्तु अब तो इधर-उधर की बात भी नहीं सोच सकता था। बस जी में यही होता था कि शीघ्र ही भगवान् बदरीनारायण के दर्शन हों और जल्दी-जल्दी घर लौटूँ—माँ को उनके स्वजनों के पास पहुँचा दूँ। फिर उसके बाद चाहे जो हो।

[२]

सुबह उठकर माँ को देखा तो रात की अपेक्षा शरीर कुछ अच्छा मालूम हुआ। फिर एक बार बुखारवाली दवा दे दी

जोशी-मठ अथवा ज्योतिर्मठ (पृष्ठ १६९)
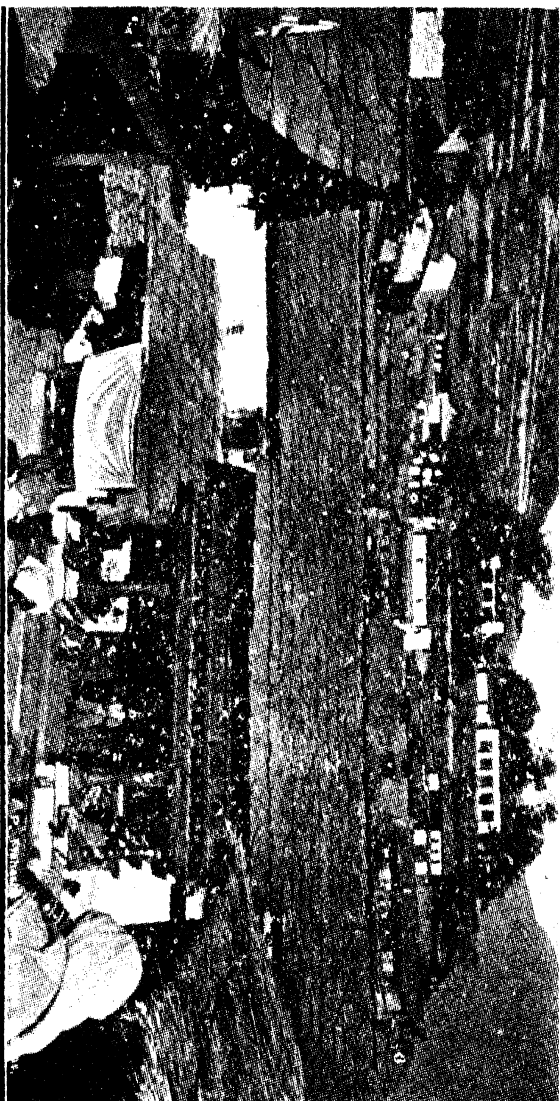
और डांडी के साथ ही चले। काकाजी भी साथ थे। हेलंग से कुछ आगे बढ़ने पर सामने से एक साहब आता दिखलाई दिया। उसकी मेम भी उसके साथ थी। बड़े हँसमुख थे वे दोनों ही। पास पहुँचने पर उन्होंने ही पहले गुडमार्निङ्ग की।

मालूम हुआ कि वे अमेरिकन हैं। काकाजी ने अँगरेजी में ही पूछा—"क्या तुम बदरीनारायण से आ रहे हो?"

"उसके और भी आगे सतोपंथ से"—उसने उत्तर दिया। फिर वे अपनी राह गये और हम अपनी राह; किन्तु मन में उनके प्रति श्रद्धा अवश्य हुई—कैसे साहसी प्रकृति-प्रेमी हैं ये लोग!

जोशीमठ से एक मील इधर स्युंगधार मिली। छोटी-छोटी दूकानें बिखरी हुई थीं। कुछ आगे बढ़ने पर एक अच्छा झरना मिला। उसके बाद जोशीमठ के सुन्दर गुलाब दिखलाई दिये। सुन्दर-सा कस्बा भी दूर से ही देखा। उसके कुछ इधर ही नीचे जाने का रास्ता था; किन्तु आगे बढ़कर देवता का दर्शन करना आवश्यक था, अतः वह राह छोड़ दी गई।

जोशीमठ अथवा ज्योतिर्मठ आदि-शंकराचार्य के स्थापित किये हुए चार प्रधान मठों में है। वही श्रीबदरीनारायणजी का 'विंटर रेजीडेन्स' (शीत-निवास) भी है। जाड़े के दिनों में रावलजी, भगवान् की चल मूर्त्ति लेकर, यहीं चले आते हैं। यहाँ नृसिंह भगवान् का सुन्दर मन्दिर है। वहाँ पहुँचकर सबसे पहले हमने दंड-धारा में मार्जन किया। फिर नृसिंह भगवान्, वासुदेव आदि के दर्शन किये। लोग यहीं प्रह्लाद का स्थान बतलाते हैं। धूप कड़ी होती जा रही थी, अतः हम अधिक देर वहाँ ठहरे नहीं, सीधे नीचे की ओर चले।

जोशीमठ से विष्णु-प्रयाग तक काफी कड़ी और चक्करदार उतराई मिली। एक ही झरना तीन बार मिला, जो सीधा ऊपर से चला आ रहा था। उतराई समाप्त होने पर सबसे पहले धौलीगंगा का पुल मिला। यह नदी भी अलकनन्दा के ही समान बड़ी, मैली और वेगवती है। इसीके किनारे-किनारे कुछ और उधर जाने पर भविष्य-बदरी के दर्शन होते हैं। लोगों का कहना है कि जब घोर कलियुग आवेगा तब नर-नारायण-पर्वत इकट्ठे हो जायँगे, तब बदरीनारायण के दर्शन वहीं होंगे। वहाँ एक धारा गर्म जल की और दूसरी ठंढे जल की है, जिसके पास अग्निदेव ने बड़ी उग्र तपस्या की थी। खैर, हमलोगों को तो उधर जाना नहीं था, अतः अलकनन्दा की ओर मुड़ गये और विष्णु-मन्दिर के सामने डांडी रखवाई।

माँ ने मार्जन के लिये नीचे के संगम का जल पाने की इच्छा प्रकट की। मैं स्वयं लोटा लेकर नीचे गया। सीढ़ियाँ उतनी अच्छी न थीं और संगम तक पहुँचने के लिये काफी नीचे उतरना पड़ा। यहाँ का संगम सभी संगमों की अपेक्षा अधिक भयङ्कर प्रतीत हुआ। यहाँ तो उतरकर नहाने की गुञ्जायश ही नहीं थी। सभी शिलाखंड पर बैठकर लोटे से स्नान कर रहे थे।

यहाँ से रास्ता खराब मिलने लगा। लगभग एक मील चलने पर अलकनन्दा को भी पुल से पार करना पड़ा। विष्णु-प्रयाग से रास्ता काफी चढ़ाई-उतराई का मिला; किन्तु चढ़ाई का ही हिस्सा अधिक था। धूप कड़ी हो गई थी; बहुत तकलीफ हुई। छाता ताने किसी तरह आगे बढ़ता गया। १७० वें मील के कुछ दूर बाद घाटचट्टी मिली। अच्छी जगह थी। रहने का

विष्णु-प्रयाग [पृष्ठ १७०]

स्थान भी सुन्दर मिल गया। सामने अलकनन्दा बह रही थी और उसके उस पार विशालकाय नंगा-पर्वत खड़ा हुआ बतला रहा था कि हम गढ़ देश में हैं।

खाकर आराम करने के बाद चलने की तैयारी हुई।

रास्ता आगे पांडुकेश्वर तक बहुत खराब नहीं मिला। हाँ, अच्छा रास्ता भी इसे नहीं कह सकते। राह में रोड़े बहुत अधिक थे और हल्की-हल्की चढ़ाई-उतराई भी थी। इस समय हम अलकनन्दा की घाटी में थे; अतः आनन्द भी काफी आ रहा था। आसपास के दृश्य बड़े ही सुन्दर थे।
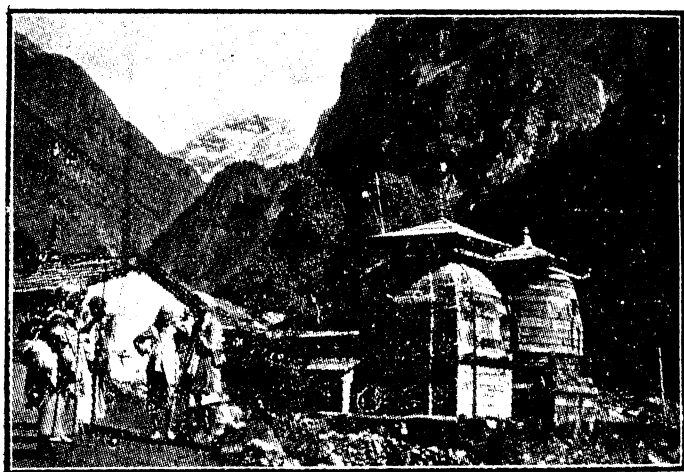
पांडुकेश्वर का मंदिर

पांडुकेश्वर अथवा योग-बदरी पहुँचने पर लोगों की राय आगे चलने की हुई। वहाँ पर अच्छा सुन्दर मन्दिर था। पुस्तक से

पता चला कि पांडु ने मुनि के शाप के बाद यहीं तपस्या करके भगवान् को प्रसन्न किया और पुत्रप्राप्ति का वरदान पाया; इसीसे यह स्थान पांडुकेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हमलोगों की इच्छा तो हुई कि देवता के दर्शन कर लें; किन्तु देर होते देख बीच बस्ती से आगे चले। यहाँ की बस्ती काफी घनी है। बदरीनारायण में ओढ़ने के लिये गरीबों को कम्बल भी मिल जाते हैं। यहाँ कई जगह दीवारों पर 'भगतसिंह जिन्दाबाद' लिखा देखकर हमें बहुत आश्चर्य हुआ। इस सुदूर पर्वत-प्रान्त में क्रान्ति की लहर पहुँच गई, यह देख किसे विस्मय न होगा ?

आगे चलने पर रास्ते से कुछ हटकर शेषधारा दिखलाई दी; किन्तु हम सीधे अपनी राह पर ही चलते गये। विचार था दूसरी चट्टी पर पहुँचकर ठहर जाने का; किन्तु वहाँ पहुँचे तो देखा कि जगह बिल्कुल भर गई थी। लाचार आगे बढ़ना पड़ा। उधर रात भी बढ़ती जा रही थी; किन्तु संयोग अच्छा था कि चाँदनी रात थी।

इधर रास्ता बहुत ही खराब, टूटा-फूटा और ऊबड़-खाबड़, मिला। किन्तु दृश्य बहुत ही हरेभरे और रमणीय थे। एक जगह पतले पुल से एक धारा को पार करना पड़ा, जो सीधी बर्फ से आ रही थी। थोड़ी दूर बाद बर्फ की राह भी मिली। मैंने सोचा था कि अब आगे बर्फ न मिलेगी, किन्तु देखा कि वह भ्रम ही था। पंडों ने सिर्फ हमारा मन रखने के लिये झूठ बोल दिया था!

लाम-बगड़ पहुँचने पर एक अलग ही झगड़ा पेश था। जगह बिल्कुल नहीं थी। बरामदे भरे हुए थे। बाबा काली कमली-

वालेकी चिट्ठी पर सदावर्ती ने दो कोठरियाँ खोल दीं। एक में औरतें टिकीं, दूसरी में मर्द टिके।

सबके निश्चिन्त हो जाने पर देखा गया कि 'पिआरो दाई' अभी तक नहीं पहुँची है। खाँसी के कारण उसकी हालत खराब हो गई थी। शरीर को किसी-किसी तरह घसीटती हुई बहुत देर बाद वह यहाँ पहुँची। उसकी यह अशक्तावस्था देखकर अन्त में उसके लिये कंडी कर दी गई।

बाहर सुन्दर चाँदनी खिली हुई थी। उसके प्रकाश में पास के पहाड़ों पर जमी वर्फ चमचमा रही थी। उधर अलकनन्दा वह रही थी अपनी अनवरत गति से। सामने छोटी-छोटी पहाड़ियाँ थीं और दूसरी ओर बड़े-बड़े दिग्गज-से पहाड़।

लाम-बगड़ का दृश्य बहुत ही सुन्दर था; किन्तु सर्दी के कारण बड़ी परेशानी थी। बाहर निकलने पर बतीसी बजने लगती थी। फिर भी जगह की कमी के कारण बहुत-से गरीब बाहर ही खुले मैदान में आसमान के नीचे उस भयंकर सर्दी में पड़े हुए थे। उस शीत-प्रदेश में जगह की कमी बहुत ही खटकी।

इतने धर्मात्मा प्रति वर्ष बदरीनारायण जाते हैं; पर किसीसे इतना नहीं बन पड़ता कि एक और अच्छी-सी धर्मशाला लाम-बगड़ में बनवा दें।

卐

श्रीबद्रीनाथ-धाम

[१]

लाम-बगड़ से श्रीबदरीनारायण-पुरी सिर्फ आठ मील है। हमें विश्वास था कि आज अवश्य ही भगवान् की दिव्य पुरी में पहुँचकर अपने मानव-जन्म को कृतार्थ करने का अवसर मिलेगा। आज ही सारी यात्रा का फल प्राप्त होगा। आज ही उस पवित्र धाम के पुण्य दर्शन होंगे, जिसके लिये इतने कष्ट उठाकर इतनी दूर से विकट राह तय करता आ रहा हूँ। आज ही उस देव-पुरी की धूल माथे पर लगाऊँगा, जिसके दर्शन के लिये युग-युग से यात्रियों का ताँता बँधा चला आता है, और जिसके दर्शन के लिये कितने ही व्यक्ति तरसते ही रह जाते हैं, फिर भी उन्हें वह सौभाग्य प्राप्त नहीं होता। सचमुच मैंने कभी कोई बहुत बड़ा पुण्य किया था, जिसके कारण आज भगवान् की पुरी में जा रहा हूँ। मेरे समान भाग्यशाली कौन होगा?

यही सब सोचता मैं छः जून को सवेरे लाम-बगड़ से चला। रास्ता काफी कठिन मिला। पत्थर के टुकड़े सारी राह में थे। अलकनन्दा के किनारे कहीं-कहीं राह बहुत पतली हो गई थी।

लगभग डेढ़ मील चलने पर झूले का पुल मिला, जो लकड़ी का बना हुआ था और लोहे के तार और रस्सी के सहारे झूल रहा था। कुछ वर्ष पहले की बाढ़ के कारण पुराना लोहे का पुल

टूट गया था और उसी के स्थान पर यात्रियों के लिये यह काम-चलाऊ पुल बना दिया गया था।

उसे देखकर हमलोग काँप उठे। हवा के झोंके के साथ वह बड़े जोर से हिल रहा था और नीचे घहरा रही थी अलकनन्दा बड़े जोरशोर के साथ। पुल के दरवाजे पर सिपाही खड़ा था, जो तीन से अधिक यात्रियों को एक साथ पुल पर नहीं जाने देता था। पुल कमजोर था, इससे किसीकी हिम्मत भी न होती थी कि उसकी अवहेलना करे। डिप्टीसाहब तो भोपाल की पीठ पकड़ किसी तरह काँपते-काँपते उस पार पहुँच गये। फिर मैं चला माँ के साथ। पंडा आगे था। तबतक मेरे बीच में दो मोटे-मोटे व्यक्ति पड़ गये और मैं इधर ही रुक गया, मा आगे बढ़ गईं। पंडा अपने एक मोटे जजमान के साथ था। उसे माँ की क्या फिक्र! माँ अकेली ही जा रही थीं उस झूले के पुल पर। पतला-दुबला शरीर, जो हवा के झोंके में उड़ जाय। मेरे काटो तो खून नहीं। मालूम हुआ, मानों दम घुट रहा हो। साँस रोक कर वह अपूर्व साहस का दृश्य देखता रहा। "बोलो बदरी विशाललाल की जय।" मा उस पार पहुँच गईं। अब मुझे सोचने की फुर्सत मिली। उस घटना से अपने ऊपर ग्लानि हुई और पंडे के ऊपर क्रोध।

अब मेरी बारी आई। झूमता हुआ पुल पर चला। एक हाथ में लाठी थी और दूसरे से ऊपर का रस्सा पकड़े हुए था। जब उस पार पहुँचा तब सर में चक्कर-सा मालूम हुआ। माँ से पूछा तो मालूम हुआ कि उनका कलेजा काँप रहा था। निश्चय किया कि अब चाहे जो हो, ऐसे अवसर पर दूसरे किसीका भी

विश्वास न करूँगा, स्वयं माँ के साथ जाऊँगा। पार होंगे तो दोनों ही–डूबेंगे तो दोनों ही; किन्तु ऐसा सोचने पर भी पंडे के ऊपर क्रोध कम न हुआ। 'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति'—नहीं तो वह हमारी अवहेलना क्यों करता! उसकी अवहेलना का परिणाम क्या होता—इसे सोचता हूँ तो अब भी काँप उठता हूँ।

पुल के बाद ऊपर जाने के लिये जो चढ़ाई मिली, उस पर काफी फिसलन थी। किन्तु किसी तरह ऊपर पहुँच गये। रास्ता उतना खराब नहीं मिला। हरियाली काफी थी। खूब सघन वृत्त पथ के दोनों ओर अपनी शीतल छाया प्रदान कर रहे थे। नीचे अलकनन्दा बह रही थी—कहीं बर्फ का घूँघट डाले अंदर ही अंदर हँसती हुई—कहीं अनावृता सुन्दरी के समान चञ्चल गति से भागती हुई।

तीन मील चलने पर हनुमान-चट्टी मिली। पास ही एक धारा बहती हुई अलकनन्दा में मिलती थी। दूसरी ओर हनुमानजी का मन्दिर था। सामने अलकनन्दा थी। वहाँ उसका पाट कुछ गोला-सा काफी सुन्दर दिखलाई देता था। उसके उस पार कुछ दूर पर बर्फ के पहाड़ खड़े थे। उनके नीचे देवदारु के सुन्दर वृत्त सर उठाकर हँस रहे थे।

वहाँ मैं बाबा काली कमलीवाले की धर्मशाला में ठहरा। आज की घटना से जला-भुना हुआ था। स्नान भी नहीं किया। पूरी खाई और कुछ देर सो रहा। शंकरसिंह को आगे भेज दिया, जिसमें वह अपने मालिक को यजमान के आने की खबर दे दे।

कुछ आराम करने के बाद लगभग ग्यारह बजे श्रीबदरीनाथ-

पुरी की ओर चल पड़ा। रास्ता उत्तरोत्तर विकट ही होता गया। हनुमान-चट्टी से आगे चलने पर कुछ ही फर्लाङ्ग बाद पतली राह मिली। एक ओर चिकने पहाड़ की खड़ी दीवार थी और दूसरी ओर अलकनन्दा। कुछ और आगे जाने पर अलकनन्दा का पुल मिला, जिसे पार कर उस ओर जाना पड़ा।

श्रीबदरीनाथ-धाम (दूर से देखने पर)

जबरदस्त चढ़ाई थी; क्योंकि रास्ते पर पत्थर नहीं, पत्थर की धूल थी, जिसके कारण पाँव टिकने ही नहीं पाते थे। पग-पग पर फिसलने का भय था। पाँव गड़ा-गड़ाकर किसी-किसी तरह ऊपर सीधी राह पर पहुँचा।

उधर एक दूसरी ही कठिनाई नजर आई। राह बिल्कुल पतली थी। पास के पहाड़ पसीज रहे थे, जिनसे पानी की पतली-सी धारा निकल-निकलकर राह को बिल्कुल पंकमय बना रही

थी। यहाँ सभी यात्रियों को पैदल ही चलना पड़ा। हनुमान-चट्टी के बाद भगवान् के दरबार में राजा-रंक सभी बराबर हो गये थे। हिर्स के कारण थोड़ी दूर लोग सवारी पर चढ़ लेते थे; किन्तु अधिक राह पैदल की ही थी।

कुछ दूर जाने पर अलकनन्दा का दूसरा झूला मिला। यह पहले झूले से भी अधिक कमजोर था और इसपर एक साथ दो से अधिक व्यक्ति नहीं जा सकते थे। मैं माँ के लिये चिन्तित था और माँ मेरे लिये। उन्हें अपनी पुत्री का सिंदूर याद आ रहा था--"जाने मइयाँ के सेंदुर के जोर!" मेरी आँखों में आँसू भर आये।

इस बार हम दोनों साथ ही झूले के पार हुए। हवा के झोंके के कारण यह और भी जोर से झूल रहा था। आगे रास्ता और भी विकट मिला। जगह-जगह बर्फ पर चलना पड़ा। इधर का बर्फीला पथ हमें केदारनाथ के पथ से भी कठिन प्रतीत हुआ।

एक जगह तो राह बहुत भयंकर मिली। पहाड़ बिल्कुल नंगा खड़ा था, जिसपर से झर-झर करके धूल झर रही थी। ऊपर से पत्थर खिसकने का भय था। वहाँ राह भी पतली थी, जिसके नीचे जबरदस्त ढाल थी। उसके बाद ही अलकनन्दा बह रही थी—बर्फ से ढँकी हुई। चलना पड़ता था एक फर्लाङ्ग, और यदि कोई उधर से आ जाता था तो उसे राह देने के लिये खड़ा हो जाना पड़ता था!

'बाबूजी, यहाँ खतरा है, जल्दी-जल्दी चलो। पहाड़ गिरने का भय है।'

'अरे कम्बख्त, कैसे जल्दी-जल्दी चलूँ। कोई सीधी सड़क

थोड़े ही है। पहाड़ से बचने के लिये भागूँ और नीचे अलकनन्दा में जा पड़ूँ? बीते जो बीतना हो।'

"गरुड भगवान् की जय।" वह राह भी तय हो गई।

आगे कई जगह बर्फ की खराब राह मिली और कई जगह बड़े ही सुन्दर दृश्य दिखलाई पड़े। एक जगह तो बर्फ का सुन्दर मिहराब-सा बन गया था, जिसके नीचे से एक छोटी-सी नदी की धारा बहती हुई चली आ रही थी। बड़ा ही सुन्दर था वह दृश्य।

श्रीबदरीनाथ-पुरी

तीसरे मील के बाद एक छोटी-सी नदी मिली, जो सीधी बर्फ से आ रही थी। उसे पार कर दूसरी ओर जाना था। मैंने नदी-किनारे आकर जूते खोले, मोजे उतारे और फिर पत्थरों पर पैर रखता हुआ मजे में दूसरे किनारे आ गया।

ऊपर माँ थीं। वहीं डांडी में छाता और जूता रख दिया और स्वयं नंगे पाँव चला। थोड़ी ही दूर पर देव-देखणी मिलेगी, फिर जूता कौन पहने ? मैं आगे चल पड़ा। बर्फ की राह एक और मिली। उसपर पैर गलने लगे। खैर, वह भी तय हो गई।

३॥ मील पर देव-देखणी मिली। वहीं गणेशजी का स्थान भी है। वहीं से श्रीबद्रीशपुरी के दिव्य दर्शन हुए। सुन्दर सुहावनी पुरी सामने फैली हुई थी। हेम-मन्दिर भी दिखलाई दिया।

"पवन मन्द-सुगन्ध-शीतल हेम-मन्दिर शोभितम्।
निकट गंगा बहति निर्मल बद्रिनाथ विश्वम्भरम्॥"

भक्तिभाव से नमस्कार किया। गणेशजी को कुछ भेंट चढ़ाई, और आगे चला। लोहे के पुल द्वारा अलकनन्दा को पार कर इस ओर आया। कुछ आगे चलने पर ऋषि-गंगा मिली। सुन्दर, उज्ज्वल, निर्मल, कल-कल, छल-छल करती हुई सुन्दर धारा बह रही थी। छोटे-से पुल द्वारा उसे पार कर पुरी में प्रविष्ट हुआ!

जन्मान्तरार्जितमहादुरितान्तरायं,
लीलावतारसिकंसुकृतोपलभ्यम्।
ध्यायन्नहो धरणिमण्डनपादपद्मं,
त्वामागतोऽस्मि शरणं बदरीवनेऽस्मिन्॥

बोलो श्रीबदरीविशाल लाल की जय !!

[२]

अलकनन्दा के इसी पार सड़क से कुछ हटकर बदरीनाथ का जो सरकारी अस्पताल है, उसीके सामने प्रधान पथ पर प्रायः पंडे अपने यजमानों का स्वागत करते हैं। वहीं माँ का पंडा भी

उत्तराखंड के पथ पर [पृष्ठ १८०]
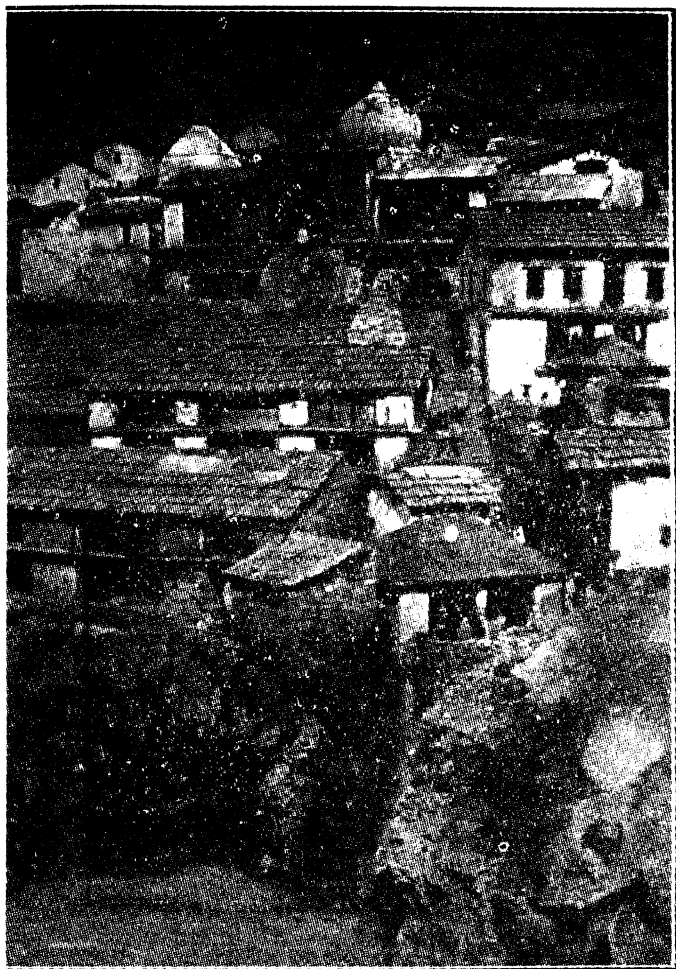
श्रीबदरीनाथपुरी (तप्तकुंड और मन्दिर का दृश्य)—सबसे ऊपर के मन्दिर के गुम्बद पर × चिह्न लगा है। वही श्रीबदरीविशाल का हेम-मन्दिर है।

हमसे मिला। उसने हमसे अपने ही यहाँ ठहरने का अनुरोध किया; किन्तु हमने सबके साथ ही ठहरना उचित समझा। अतः बीच बाजार से होता हुआ उस मकान पर पहुँचा, जहाँ आनन्द-प्रसाद पंडा ने हमारे ठहरने का प्रबन्ध किया था।

अच्छा सुन्दर-सा मकान था। नीचे किसी दूसरे पंडाजी के परिवारवाले ठहरे हुए थे। ऊपर हमलोग टिकाये गये। तीन कमरे थे—एक में नौकर लोग, दूसरे में मर्द और तीसरे में औरतें। सामने का दृश्य सुन्दर था। अलकनन्दा बह रही थी और उस पार नर-पर्वत खड़ा था। इधर-उधर के पहाड़ बर्फ से ढँके हुए थे।

कुछ देर विश्राम करने के बाद मा के पंडा श्रीरामप्रताप नम्बरदार के साथ रावलजी की ओर चला। गुरुवर नरदेव शास्त्री ने उनके नाम एक पत्र दिया था। सिरनामा यों लिखा हुआ था—"श्री १०८ वासुदेव नम्बूदरी, बदरीनाथ-धाम।"

इन्हीं रावलजी के हाथ में श्रीबदरीनाथ के मन्दिर का सारा प्रबन्ध रहता है। ये आदि-शंकराचार्य के सजातीय दक्खिन के नम्बूदरी ब्राह्मण होते हैं। ब्रिटिश सरकार और टिहरी-दरबार की राय से इनकी नियुक्ति होती है। ये आजीवन अविवाहित रहते हैं। इनके मरने के बाद दक्खिन से फिर दूसरे रावल आते हैं।

जिन दिनों हमलोग वहाँ गये, उन दिनों इस बात का झगड़ा बड़े जोर से चल रहा था कि मन्दिर का प्रबन्ध रियासत-टिहरी के अधीन रहे अथवा रावलजी के। किन्तु मैंने इस व्यर्थ के झगड़े में पड़ना उचित न समझा। लोगों से कहता था कि भगवान् बदरीविशाल अपने लिये जो उचित समझेंगे, करेंगे। वे भगवान्

हैं, सर्वशक्तिमान् हैं, उनके लिये हमें चिन्ता करने की आवश्यकता ही नहीं है।

रावलजी के मकान पर पहुँचने पर मालूम हुआ कि वे खजाने में गये हुए हैं। अतः लौट आया और सबके साथ भगवान् के मन्दिर की ओर चला। सड़क से काफी ऊँचाई पर कई सीढ़ियाँ तय करने के बाद हम मन्दिर के अहाते में पहुँचे। सामने ही हेम-मन्दिर था—अहाते के ठीक बीचोबीच। उसके एक ओर लक्ष्मीजी का मन्दिर था और उसके पास ही था भोग-भवन। दूसरी ओर कुछ और छोटे-छोटे मन्दिर थे। प्रधान मन्दिर के अन्दर जाने के लिये तीन दरवाजे थे। सामने का दरवाजा बन्द था। बाकी एक दरवाजे से लोग अन्दर जाते थे और दूसरे दरवाजे से, जो लक्ष्मीजी की ओर है, बाहर आते थे।

यात्रियों की भीड़ का क्या कहना! एक पर एक लोग टूट रहे थे! छोटा-सा दरवाजा, छोटा-सा मन्दिर, प्रबन्ध किस प्रकार हो? मन्दिर बनानेवालों ने कभी सपने में भी न सोचा होगा कि एक समय ऐसा भी आवेगा जब हजारों की संख्या में लोग श्रीबदरीनाथ के दर्शन को पहुँचा करेंगे।

पहले तो श्रीबदरीनाथ जाने के लिये अपूर्व साहस की आवश्यकता होती थी। लोग सबसे अन्तिम बिदा माँगकर यात्रा पर चलते थे—क्या जाने फिर लौटकर आने पावेंगे या नहीं! वे घनघोर जंगल, जिनके अन्दर होकर जाने को ठीक राह भी नहीं। नदियों पर सिर्फ रस्सियों के पुल। सचमुच कैसे दिन रहे होंगे वे भी। यहाँ से लौटने का अथवा यों कहिये कि यहाँ तक पहुँचने का भी सौभाग्य बिरले ही भाग्यवान् को प्राप्त होता
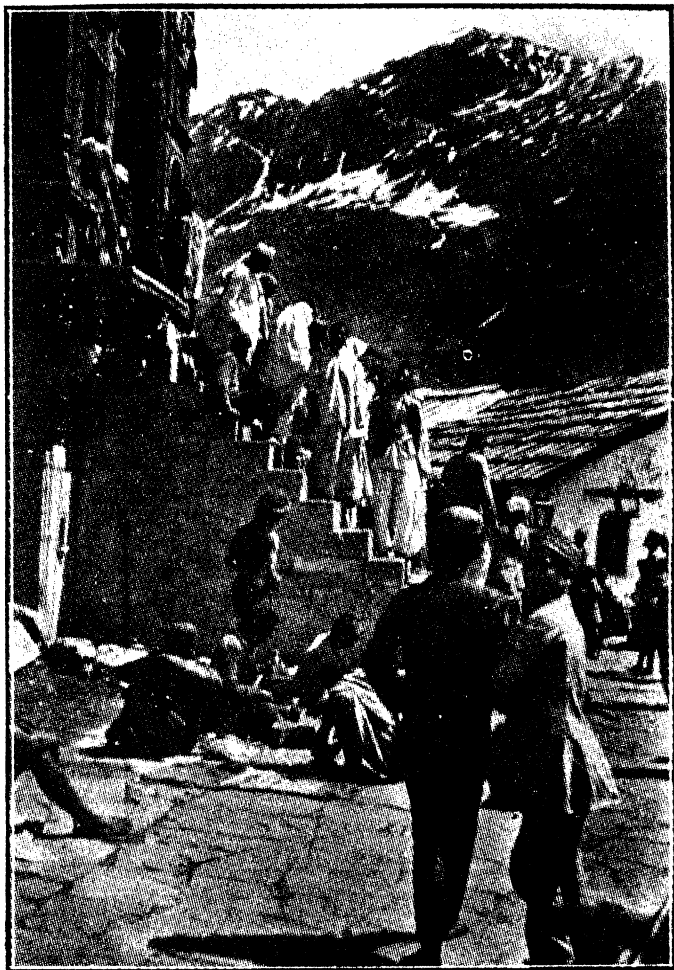
श्रीबदरीनाथ का मन्दिर (सीढ़ी का दृश्य)—पृष्ठ १८२

होगा; क्योंकि जब सभ्यता के इस उन्नत युग में—जब प्रत्येक प्रकार की सुविधाएँ सुलभ हैं—हमें रास्ते में इतने कष्ट होते हैं, तब फिर उस समय का अनुमान करना भी कठिन ही प्रतीत होता है कि क्या हालत रही होगी।

वही पुरानी स्मृति आज भी चली जा रही है और आज भी लोग अपने सम्बन्धियों को बदरीनारायण के लिये बिदा करते समय ऐसा ही समझते हैं कि फिर अब भेंट न होगी। हमारे साथ के वकील साहब, जिनकी उम्र इस समय लगभग सत्तर वर्ष अथवा उससे कुछ अधिक ही है, जब घर से चलने लगे तब उनकी पुत्रवधू ने कहा—'बाबूजी, जरा बच्चे का विवाह देख लेते तो जाते।' बाबूजी ने हँसते हुए कहा–'अरे, मैं मरने जा रहा हूँ क्या ? मैं फिर लौट आऊँगा।' किन्तु उनकी पुत्रबधू की धारणा वही थी, और अधिकांश परिवारवालों की भी धारणा यही रहती है। बुढ़ापे में हमेशा के लिये उन्हें बदरिकाश्रम बिदा कर देते हैं। जो लौट आवें उनका अहोभाग्य !

यहाँ भी मैंने देखा कि दर्शनार्थियों में अधिक संख्या बूढ़े-बूढ़ियों की ही है। मन्दिर में जगह कम होने के कारण सभी एक साथ अन्दर नहीं जाने पाते। एक साथ एक दल छोड़ा जाता है। थोड़ी देर, शायद पाँच मिनट के लिये, उन्हें दर्शन करने का अवसर दिया जाता है। फिर वे निकाल-बाहर किये जाते हैं। अपनी तबीयत से तो कोई बाहर आना नहीं चाहता, इससे बल-प्रयोग करना पड़ता है; क्योंकि उधर बाहर खड़े हुए यात्री व्याकुल हो शोर मचाते रहते हैं।

क्या किसी थर्डक्लास वेटिंग-रूम के बुकिंग-आफिस के सामने

इतनी भीड़ होती होगी जितनी यहाँ उस दरवाजे के सामने होती है! देह से देह छिल रही थी। लोग जान देने को तैयार थे। मेरी उस भीड़ में हिम्मत न हुई। भक्तिभाव शायद उतना प्रबल नहीं था। माँ इत्यादि सभी अन्दर घुस गईं। मैं बाहर ही मँड़-राता रहा!

"पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसम्भवः।
त्राहि मां पुण्डरीकाक्ष सर्वपापहरो हरिः॥"

आखिर बिना दर्शन किये जाने की इच्छा न हुई। भीड़ कुछ कम होने पर मैं भी अन्दर घुसा। देखा, अन्दर सभा-मंडप के बाद दो कमरे हैं। मंडप में लोग इकट्ठे होते हैं। सामने लकड़ी का डंडा लगा हुआ है, जिसे पार कर लोग पहले कमरे में जाते हैं। दूसरे कमरे में भगवान् स्वयं विराजमान हैं—अपने सभासदों के साथ। वहाँ रावलजी के सिवा और कोई भी नहीं जाने पाता। हाँ, उनके साथ उन्हें सहायता देने के लिये एक और पुजारी रहता है।

भगवान् के कमरे के दरवाजे पर दोनों ओर दो पुजारी रहते हैं। बीच में बत्ती जलती रहती है। पूजा के पात्र रक्खे रहते हैं। उसके इस ओर सामने ही लकड़ी का एक डंडा लगा रहता है। भक्तगण वहीं से भगवान् के दर्शन करते हैं। अधिक समय बीतने भी नहीं पाता कि मन्दिर के चपरासी 'बाहर चलो, बाहर चलो' का शोर मचाते हैं। देर होने पर 'अर्द्धचन्द्रं दत्वा' निकालने की नौबत आ पड़ती है! इसलिये भाई, अपनी इज्जत अपने हाथ। मैं मंडप में ही खड़ा रहा। आगे बढ़ने की हिम्मत
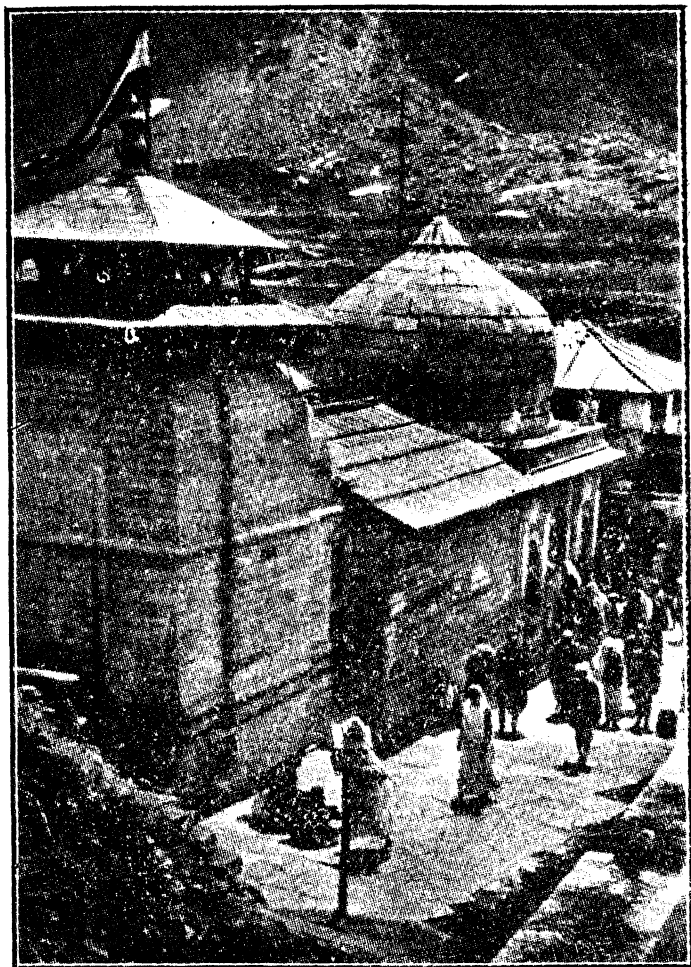
श्रीबदरीनाथ का मन्दिर (अन्दर की परिक्रमा का दृश्य)— पृष्ठ १८२

न हुई। सिर्फ एक झलक ले ली और चुपचाप बाहर चला आया। कुछ भेंट चढ़ाई या नहीं, इसकी भी याद नहीं है।

भगवान् की झाँकी के बाद मैं फिर रावलजी के यहाँ गया। बाहर चपरासी खड़ा था। उसने कहा कि अभी फुर्सत नहीं है, काम में लगे हुए हैं। मैंने उसे रावलजी (गुरुवर नरदेव शास्त्री) का पत्र दे दिया और कहा कि चुपचाप जाकर इसे दे दो। वह अन्दर गया। जमाना सिफारिश का है। तुरत ही मेरी बुलाहट हो गई। मैंने जाते ही कुछ भेंट चढ़ाई; क्योंकि बड़े आदमी के सामने खाली हाथ जाते अच्छा नहीं मालूम हुआ।

रावलजी बड़े ही प्रेम के साथ मिले। सुन्दर मुँह, हँसमुख प्रकृति, छोटी-छोटी दाढ़ी। मसनद लगाकर बैठे हुए थे। पास ही श्रीशंकराचार्य की चाँदी की मूर्त्ति थी। सामने पीकदान था। बगल में पान का डिब्बा। उन्होंने पान मेरी ओर भी बढ़ाया। मुझे लालच हुई; किन्तु इस तीर्थयात्रा में पान न खाने का प्रण कर लिया था, अतः रुक गया।

मन्दिर के प्रबन्ध की बातें हुईं। उन्होंने भी जगह की कमी का रोना रोया। वास्तव में स्थिति विचित्र है। इतने अधिक यात्री, इतनी कम जगह। औरतों के कारण और भी कठिनाई होती है। दो प्रान्तों की औरतों का उन्होंने खास तौर से जिक्र किया। एक तो इतनी भावुक प्रकृति की होती हैं कि देवता के आगे फूट-फूट रोने लगती हैं और लाख कहने पर भी हटने का नाम नहीं लेतीं। उन्हें जबरदस्ती हटाने में भी कठिनाई मालूम होती है, लेकिन लाचार हटाना ही पड़ता है। दूसरे प्रान्त की स्त्रियाँ काफी जबरदस्त होती हैं और उनके साथ दूसरी तरह की कठि-

नाई उपस्थित होती है। एक तो ऐसा उदाहरण उन्होंने बतलाया, जिसमें किसी स्त्री ने सामने के एक पुरुष का ऐसा मर्म-स्थान ऐंठ दिया, जिससे वह बेचारा बेहोश हो गया और यह सब इसी लिये कि वह सामने से हट जाय और उस स्त्री को आगे बढ़ने का अवसर मिले! वहाँ के पंजाबी दारोगा साधोरामजी ने, जो उस समय वहीं बैठे हुए थे, उनकी बातों की ताईद की।

रावलजी ने ब्रिटिश सरकार के शासन का जिक्र करते हुए उससे होनेवाले कुछ लाभों का ब्यौरा दिया। उसी सिलसिले में उन्होंने एक मुकद्दमे की बात बतलाई जो उन दिनों अदालत में चल रहा था। बात यह थी कि एक कंडीवाला कंडो पर एक बुढ़िया को लिये जा रहा था। उस बुढ़िया के साथ और कोई नहीं था। हाँ, पास में कुछ पैसे जरूर थे। बस, उस कुली के दिल में पाप घुसा और उसने एक निर्जन स्थान में अपने जानते बुढ़िया का गला घोंटकर उसका खातमा कर दिया और स्वयं रुपये-पैसे लेकर चम्पत हो गया। किन्तु भगवान् की दया! बुढ़िया मरी नहीं। किसी-किसी प्रकार कुछ यात्रियों के साथ पुरी में पहुँच गई। फिर तो तहकीकात शुरू हुई, और अन्त में अपराधी पकड़ा गया। उसीका मुकद्दमा चल रहा था। उसी बात को रावलजी ने मेरे सामने नमूने के समान पेश किया कि ब्रिटिश शासन से ऐसे कितने ही लाभ हैं।

मुझे उनसे बातें करने पर बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने मेरा काफी सत्कार किया। अपने यहाँ ठहरने को भी कहा; किन्तु हम दूसरी जगह ठहर गये हैं, यह जानकर उन्होंने और अधिक कहना ठीक न समझा। दूसरे दिन ठीक से दर्शन करा देने के

लिये उन्होंने दारोगा साहब से कहा। उन्होंने भी स्वीकार कर लिया। मन्दिर में जाने का समय हो गया था, अतः रावलजी हमसे बिदा हुए। मैं भी दारोगा साहब के साथ बाहर आया।

साधारण रीति से एक बार बाजार घूम आया। पतली-सी सड़क के दोनों ओर काफी अच्छी-अच्छी दूकानें हैं। आराम के प्रायः सभी सामान मौजूद हैं। मैं एक बार सरसरी निगाह से उन्हें देखकर वासस्थान पर वापस आया। आज पंडे की ओर से हमारी मेहमानी थी। पूआ, पापड़, मिठाई, अचार, पूरी इत्यादि बहुत दिनों बाद वैसा भोजन मिला था। बड़े ही प्रेम से खाया। चाय भी बहुत ही अच्छी मिली। उसमें केसर-कस्तूरी जाने कौन-कौन-सी चीजें पड़ी हुई थीं।

वहाँ मैंने एक खास बात देखी कि भोजपत्र, जिसका हमारे यहाँ इतना मोल है और इतना महत्त्व है, वहाँ साधारण रीति से पत्तल के काम में आ रहा था। कितने ही तो इतने बड़े होते हैं कि छप्पर छाने के काम में आते हैं। मुझे दुःख है कि मैं कुछ बड़े पत्ते न ला सका।

खाने के बाद मैं कुछ देर के लिये बाहर बरामदे में चला आया। आसपास के पहाड़, जिनपर बर्फ लदी हुई थी, चन्द्रमा के प्रकाश में चम-चम कर रहे थे। उधर अलकनन्दा की लहरें चाँद की किरणों के साथ क्रीड़ा करती हुई अविश्रान्त गति से आगे की ओर भागी जा रही थीं। सचमुच वह दृश्य बड़ा ही मनोहर था।

सा गन्धमादनलताकुसुमौघलक्ष्मीः
सा दिव्यतुङ्गहिमवन्नगशृङ्गपङ्क्तिः।

गङ्गा च पुण्यसलिला किमु यत्र रम्यं
त्वामागतोऽस्मिशरणं बदरीवनेऽस्मिन्॥

जी यही चाहता था कि बाहर बैठकर निर्निमेष नयनों से प्रकृति की शोभा देखता रहूँ; किन्तु कल सवेरे से ही तीर्थ-कृत्य में लग जाना था, अतः कमरे में आकर चुपचाप सो रहा।

卐

तीर्थवास और पूजा

[श्रीबदरीनाथ-धाम में]

श्रीबदरीनारायणपुरी में एक, तीन, पाँच, सात असम रात्रियों तक रहने की व्यवस्था है। हमलोग एक रात काट ही चुके थे। दो रात और यहाँ बिताने का विचार हुआ। जिस धाम पर पहुँचने के लिये इतनी तकलीफ उठाई थी, वहाँ कम-से-कम तीन दिन भी तो रह लें। हमलोगों ने अपना प्रोग्राम निश्चित कर लिया। पहले दिन प्रथम परिचय और प्रथम दर्शन। दूसरे दिन विधिपूर्वक भगवान् की पूजा। तीसरे दिन तीर्थ के अन्यान्य पवित्र स्थानों के दर्शन। चौथे दिन सवेरे ही प्रस्थान।

आज भगवान् की पूजा का दिन था। सुबह जिस समय उठे उस समय कुछ-कुछ सर्दी थी। मुँह-हाथ धोने के लिये जल तप्त-कुंड से आया; किन्तु उसका स्वाद अच्छा नहीं था। फिर भी उस सर्दी में गर्म जल पाकर अत्यन्त आनन्द हुआ।

प्रातःकृत्य से निवृत्त होकर मैंने पहले मन्दिर पर जाकर दारोगाजी के विषय में दरियाफ्त किया। फिर रामप्रताप पंडा के साथ माँ को लेकर तप्तकुंड पर गया। बीच में कूर्मधारा मिली, जहाँ का पानी पीने के काम में आता है।

तप्तकुंड बिल्कुल अलकनन्दा के किनारे है। ऊपर घाट पर थोड़ी दूर हटकर कुंड बना हुआ है, जिसके ऊपर टीन का छप्पर

पड़ा हुआ है। उसमें एक ओर से गर्म जल की धारा आती है, दूसरी ओर से ठंढे जल की, जिसके कारण स्नान करने के योग्य पानी कुछ गुनगुना हो जाता है। कुंड के ऊपर थोड़ी दूर हटकर एक छोटी-सी कोठरी है, जिसमें रावलजी स्नान करते हैं।

तप्तकुंड पहुँचने पर वहाँ के ठेकेदार ने एक आना फी आदमी वसूल किया। रसोई आदि की कुछ भी व्यवस्था नहीं थी। होनी भी कठिन ही है। 'धर गोलक में तू दाम' की गुंजाइश बहुत काफी है। पहले माँ इत्यादि स्नान कर आईं। फिर मैं गया। नारियल के गोले में गुप्तदान तथा उसकी दक्षिणा—यही यहाँ की विधि है। माँ ने अपने पंडे से संकल्प कराया और मैंने आनन्दप्रसाद पंडा के पुत्र हरिप्रसाद से। तप्तकुंड में उतरकर स्नान किया। पहले तो गर्मी बहुत मालूम हुई, पर बाद को आनन्द आने लगा।

वहाँ से मन्दिर में गया। दारोगा साहब को खबर दे दी। आम फाटक से ही सभी अन्दर घुसे—पूरे धक्के में; किन्तु अन्दर जाने पर पूरी सहूलियत हो गई। हमारे साथ वाली भीड़ उधर दर्शन करने गई। हम सभा-मंडप में ही खड़े रहे। जब वह भीड़ हट गई तब हम पूजा करने आगे बढ़े।

मन्दिर के प्रबन्धकर्त्ताओं के कारण पूरा आराम रहा। बड़े मजे में पूजा की। जो कुछ चढ़ाना था, यथाशक्ति देवता को अर्पित किया। भगवान् का भव्य दर्शन कर जाने क्यों बड़े जोर का भावावेश हुआ। मैं कोई भक्त नहीं हूँ, न धर्मात्मा ही हूँ। आस्तिक हूँ या नास्तिक, यह भी नहीं कह सकता; फिर भी उस दिन देवमूर्त्ति के सामने जैसा भावोद्रेक हुआ वैसा कभी न

हुआ था। 'पापोऽहं पापकर्माहम्' कहते-कहते मैं फूट-फूटकर रो पड़ा! गला रुँध गया। आवाज भर आई।

भगवान् की पूजा समाप्त हो जाने पर हमलोग लक्ष्मीजी के मन्दिर में गये। भूख के मारे प्राण निकले जा रहे थे; किन्तु ब्रह्म-कपाली पर पिंडदान करना बाकी ही था। हरद्वार और देवप्रयाग में श्राद्धकृत्य कर ही चुका था। अब यही अन्तिम स्थान शेष था। अतः इससे भी निबट लेना आवश्यक समझा; क्योंकि तीर्थ-माहात्म्य में पढ़ा था कि इसके बाद फिर और कहीं भी श्राद्ध इत्यादि की आवश्यकता नहीं रह जाती।

"अज्ञानाज्ज्ञानतो वापि भक्त्याभक्त्याथवा पुनः।
यैरत्र पिण्डवपनं जलतर्पणकं कृतम्॥
तारिताः पितरस्तेन दुर्गता अपि पापिनः।
किं गयागमनाद्देवि किमन्यत्तीर्थतर्पणैः॥"

यहाँ ज्ञान-अज्ञान भक्ति-अभक्ति सबकी गुंजाइश थी; किन्तु मैंने जो भी कर्म किया, सच्चे दिल से। श्राद्ध के बाद अलकनन्दा-तट पर तर्पण किया। ब्रह्म-कपाली सुन्दर जगह है; किन्तु देर काफी हो चुकी थी। उधर धूप भी कड़ी होती चली जा रही थी। अतः तीर्थ-कृत्य समाप्त होते ही भागा-भागा घर आया। भूख जोर की लगी थी। नम्बरदार पंडा के यहाँ से भात आ चुका था। आज उसी की ओर से भगवान् के भोग का तवाजा था। यहाँ का प्रसाद वही है और उसे खाने में किसी को भी हिचक नहीं होती। चाहे कोई भी क्यों न छू दे, बड़े-से-बड़े धर्मात्मा ब्राह्मण भी बड़े प्रेम के साथ उसे ग्रहण कर लेंगे। "चाण्डालेनापि संस्पृष्टं न दोषाय भवेत्क्वचित्"!

मैंने खाना शुरू कर दिया—कढ़ी, भात, अचार, मीठा पुलाव इत्यादि। दाल बिल्कुल गली नहीं थी। इन ऊँचे स्थानों में दाल गलती ही नहीं, फिर लोग उसे पकाने की गलती क्यों करते हैं, यही मेरी समझ में नहीं आया।

खा-पीकर लेट रहा। तबतक आनन्दप्रसाद पंडा के यहाँ से प्रसाद आया। दुबारा तो खाना नहीं था, बस लेटे-लेटे लोगों के खाने का तमाशा देखता रहा। अजीब दृश्य था वह भी। झाजी (मैथिल ब्राह्मण), तिवारीजी (सरयूपारीण), वकील साहब (क्षत्रिय), डिप्टीसाहब (कायस्थ)—सभी एक ही आसन पर बैठे हुए खाना खा रहे थे। वहीं फेकू (नौकर) बैठा था। वहीं जगदीश नौकर बैठा था। किन्तु आज उन्हें किसी की भी परवा नहीं थी। "प्रवृते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णाः द्विजोत्तमाः"—मजमून कुछ वैसा ही मालूम हो रहा था।

मैंने टोक दिया, "क्यों साहब, यह क्या हो रहा है?" उन्होंने कहा—"यह भगवान् का धाम है। यहाँ किसी प्रकार की छुआछूत नहीं।" मानों और जगह भगवान् हैं ही नहीं! कितनी बड़ी नास्तिकता है! जहाँ यहाँ से चले, फिर वही छुआ-छूत, फिर वही जातपाँत का भेद! हे भगवन्, कब भारत के गाँव-गाँव में तुम्हारा धाम हो जायगा, जब वहाँ के रहनेवाले एक दूसरे को भाई समझने लगेंगे—मनुष्य मनुष्य से घृणा नहीं करेगा। यही सोचते-सोचते मुझे एक हल्की-सी झपकी आ गई।

उठने पर मुँह-हाथ धोकर डायरी लिखी। फिर शाम को रावलजी के यहाँ गया। वहाँ कुछ बंगाली सज्जन बैठे हुए थे। रियासत-टिहरी और ब्रिटिश भारत के विषय में बातें चलीं। वे

लोग ब्रिटिश भारत के ही पत्त में थे कि बदरीनाथ का मन्दिर उसीके अधीन रहे। उसी समय एक तार लिखा गया। बीच-बीच में वे मुझसे भी सलाह लेते रहे। उन बंगालियों ने मुझे भी बंगाली ही समझ रक्खा था। अतः वे मुझसे बँगला में ही बातें करते रहे। मैं भी संक्षिप्त उत्तर देता रहा। अंत में जब उन्होंने मेरा स्थान पूछा, मैंने बतलाया कि मैं हिन्दुस्तानी हूँ, बंगाली नहीं; क्योंकि अपनी समझ के अनुसार बंगाली हिन्दुस्तानी नहीं होते! उनका देश अलग ही है! कम-से-कम अपनी बातों द्वारा तो वे इसी की घोषणा करते हैं।

बंगालियों को अपनी भूल मालूम हुई और रावलजी को आश्चर्य। उन्होंने पूछा—"यह कैसे, प्रोफेसर साहब?" मैंने कहा—"मैं बंगाल का पड़ोसी हूँ।"

बंगालियों के चले जाने के बाद रावलजी से एकाधिपत्यादि के विषय में बहुत बातें हुईं। मैं एकाधिपत्य के विरुद्ध हूँ। राजा अच्छा हुआ तो ठीक; किन्तु इसकी तो गारंटी नहीं कि इसके बाद जो राजा होगा वह भी ठीक ही होगा। अतः जान-बूझकर पाँव में कुल्हाड़ी मारना ठीक नहीं। फिर यहाँ के मामलों में अपने को तटस्थ रखना ही मैंने उचित समझा।

उसी समय श्रीयुत घनश्यामसिंहजी डिमरी वकील चमोली-वाले आ गये। हमारे रावलजी ने उनके नाम भी पत्र दिया था। कुछ देर उनसे भी बातें हुईं। शाम की आरती का समय हो रहा था। अतः सबको साथ लेकर मन्दिर जाने के लिये घर लौट आया।

मन्दिर के अन्दर आराम की जगह मिल गई। उस दिन

संयोग से एक सौ एक रुपये वाली जगह खाली थी। वहाँ से बैठकर सांगोपांग सन्ध्या-पूजन की विधि देखी। सभी देवताओं के दर्शन भी ठीक से किये।

बीच में छत्रधारी भगवान् श्रीबदरीनाथजी—(दाहिनी ओर क्रमशः) लक्ष्मीजी, नारायण और नर—(बाईं ओर क्रमशः) कुबेरजी, गणेशजी, गरुडजी—(आगे सिंहासन के दोनों बगल) बाईं ओर उद्धवजी और दाहिनी ओर वीणा सहित नारदजी।

बीच में भगवान् बदरीनारायण की सुन्दर श्यामल मूर्त्ति—वस्त्राभूषणों से सुसज्जित, जिसके ऊपर चाँदी-सोने के छत्र लगे थे। सोने के मुँहवाले कुबेर दूर से ही चमक रहे थे। गरुडजी भी साफ पहचान में आ जाते थे। महारानी लक्ष्मी का तो कहना ही क्या! नारद, उद्धव, नारायण, सभी के दर्शन भव्य थे। धीरे-धीरे भगवान् के निर्वाण-रूप के दर्शन किये।

सारे वस्त्राभूषण उतार लिये गये। अन्त में 'चन्दन-चर्चित नील कलेवर' के दर्शन हुए। चादर ओढ़ा दी गई। हमलोगों ने प्रसाद की फूलमाला ली, चरणामृत लिया। सन्तुष्ट मन से घर की ओर लौटे।

लौटते समय महेशानन्द ऐंड सन्स की दूकान पर कुछ समय लगा। गढ़वाल-डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड के मेम्बर श्रीगोविन्द नौटियाल से परिचय हुआ। वे ही इस दूकान के मालिक हैं। उनके यहाँ उत्तराखंड-सम्बन्धी तस्वीरें, लॉकेट-डिबिया इत्यादि चीजें मिलती हैं। वहाँ से लौटकर घर आया और बहुत देर तक आज की बातें सोचता रहा। भगवान् की निर्वाण-मूर्त्ति का ध्यान विशेष रूप से आया। जी में हुआ—

किं तेन लोचनयुगेन न येन पीता।
सा तापसी तव विभो कमनीयमूर्त्तिः॥
नीता न येन हृदयाम्बुजमध्यमेवं।
त्वामागतोऽस्मि शरणं बदरीवनेऽस्मिन्॥

थोड़ी देर बाद नींद आ गई।

卐

धाम में अन्तिम दिन

दूसरे दिन ज्येष्ठ-पूर्णिमा थी। मैं खूब सवेरे उठकर तप्तकुंड से स्नान कर आया। आज भगवान् के मन्दिर में जाकर सुबह का सांगोपांग दर्शन करने की इच्छा थी। मैंने औरों से भी कहा, किन्तु कोई भी तैयार न हुआ। उन्हें पञ्चतीर्थ, पंचशिला इत्यादि का दर्शन करना था; किन्तु मैंने देखा कि इस पंच के प्रपंच में पड़ने से मैं भगवान् का पूर्ण दर्शन न कर सकूँगा, और अपने जी में दर्शन की लालसा अत्यधिक थी। अतः मैं सबसे अलग होकर अकेला ही मन्दिर पर पहुँच गया और जल्दी ही अन्दर दाखिल भी हो गया। फिर वहीं चोबदार के पास खड़ा होकर मुग्ध नयनों से भगवान् को देखने लगा। बिल्कुल नंगा बदन था। रावलजी पूजा कर रहे थे। तैल लगा, आटा लगा, स्नान हुआ, दुग्धस्नान हुआ—न जाने वे और कितनी ही चीजों से नहलाये गये। आरती दिखलाई गई। शरीर चमक उठा। पुजारी के कहने पर मूर्त्ति की विशेषता मालूम हुई। 'जाकी रही भावना जैसी, हरि-मूरति देखी तिन तैसी।' इस एक ही मूर्त्ति में गणेश, शिव, द्विभुज, चतुर्भुज, बुद्ध, महावीर आदि सभी के दर्शन हो जाते हैं। ऐसा जान पड़ा मानों इसी मूर्त्ति के विषय में निम्नलिखित श्लोक लिखा गया हो—

"यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो,
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्त्तेति नैयायिकाः।

अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्म्मेति मीमांसकाः,
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः।”

श्रीबदरीविशालजी का दुर्लभ चित्र (तापस-मूर्त्ति ?)

मैंने आन्तरिक श्रद्धा और भक्ति के भाव से प्रेरित होकर उस देवमूर्त्ति को नमस्कार किया। कुबेर, गरुड, उद्धव, नारद, लक्ष्मी, नर-नारायण आदि सभी के भव्य दर्शन हुए। सभी को स्नान कराया गया। सभी को कपड़े पहनाये गये। वस्त्राभूषण, मणि-माणिक्यादि की जगमग, मुकुट-छत्र इत्यादि देखकर चित्त मुग्ध हो गया। सोने के छत्र के ऊपर बड़ा-सा चाँदी का छत्र था।

चोबदार ने बतलाया कि सोना जयपुर के महाराज का और चाँदी बर्दवान की महारानी का दान है। उनकी जगमग में वह 'तापस-मूर्त्ति' एकबारगी विलीन-सी हो गई। भगवान् ने किस प्रकार अपने को भक्तों के हाथ में खिलौना-सा दे दिया है। फिर भी मेरे जानते उस तापस-मूर्त्ति में जो सौन्दर्य था, वह मणि-माणिक्यादि के कारण बहुत-कुछ दब गया।

वहाँ खड़ा-खड़ा मैं भगवान् को ही नहीं, बल्कि कभी-कभी एक नजर भक्तों को भी देख लेता था। 'राम ते अधिक राम कर दासा'—कितने आते थे और रोने लगते थे। कितनों ही को भेंट चढ़ाने तक की फुर्सत नहीं थी। बूढ़ी बंगालिनों का 'दयामय' 'दयामय' कहकर रोना कभी न भूलेगा। बंगालिनों ने भेंट बहुत चढ़ाई; किन्तु दिया-बाती जलाकर उन्होंने अन्धकार-सा कर दिया।

कुछ देर बाद माँ भी आ गईं। चपरासी उन्हें हटाने जा रहा था, तबतक मेरी नजर उनपर पड़ गई। 'मेरी माँ हैं' कहकर मैंने उन्हें अपने साथ ले लिया। फेकू भी आकर खड़ा हो गया। कुछ देर बाद आरती हुई। बाल-भोग लगा। फिर आरती हुई। आरती और चरणामृत लेकर सन्तुष्ट-चित्त हमलोग घर लौटे।

मैंने जी भरकर आज दर्शन किया; किन्तु वहीं दो-तीन घंटे लग गये। घर आने पर सर-दर्द मालूम हुआ। नाक से काला मैल निकला, जो शायद धुएँ का प्रसाद था। रावलजी की बात याद आ गई—भविष्य पुराण में लिखा हुआ है कि यहाँ के रावल की मृत्यु बराबर श्वास-रोग से होगी। मैंने सोचा,

जब दो-तीन घंटों में ही मेरी यह हालत हो गई, तब रोज-वालों की क्या हालत होती होगी !

मैंने वहाँ खड़े-खड़े प्रबन्ध की कठिनाइयों का अनुभव किया। भीड़ के कारण कई बार प्रसाद का थाल और कमलपात्र उलट गये। पैसों के गायब होने की सम्भावना काफी दिखलाई दी। सामने एक मजबूत डंडा लगा रहना आवश्यक प्रतीत हुआ। बहुत-से यात्रियों को 'प्रसाद' 'प्रसाद' चिल्लाते और बिना प्रसाद के बाहर निकाले जाते भी देखा। इन दोनों बातों की ओर मैंने मन्दिरवालों का ध्यान आकर्षित किया। छोटी-सी जगह में सभी सहूलियत से पूजा कर लें, यह तो असम्भव ही है। जबरदस्ती लोगों को बाहर हटाना भी एक प्रकार से अनिवार्य हो उठता है, फिर भी प्रसाद आदि का समुचित प्रबन्ध तो होना ही चाहिये।

आज दिन में भी नम्बरदार पंडा के यहाँ से प्रसाद आया। किन्तु उसका दाम दे दिया गया; क्योंकि आज उससे लेने का हक हमें हासिल नहीं था। सर-दर्द के कारण चित्त खिन्न रहा और मैं चुपचाप सो गया। उसका परिणाम यह हुआ कि मैं वहाँ के अन्यान्य स्थानों के दर्शन न कर सका।

दोपहर में तिवारीजी उस पार जाकर नर-पर्वत पर भागल-पुर के श्रीरामसुचित सिंह (?) से मिल आये, जो बारह वर्षों से बदरिकाश्रम में ही रहते हैं। सर्दी के दिनों में कोई भी बदरिकाश्रम में नहीं ठहर पाता; किन्तु उनके ही विषय में सुना कि गत वर्ष सर्दी में भी वे वहीं रह गये थे। तप्तकुंड के पास कमरे में उन्होंने अपना स्थान बनाया था। वहीं छः महीने के

लिये लकड़ी-ईंधन, खाना-पीना इत्यादि सब कुछ रख लिया और वहीं टिके रहे। उनके साथ उनका एक और साथी भी था। ऐसे महात्मा का दर्शन करना आवश्यक था; किन्तु अपना दुर्भाग्य ! सर-दर्द के कारण कहीं भी न जा सका। चुपचाप सारी दुपहरी सोया रहा।

उठने पर देखा, माँ बहुत-सी तस्वीरें, लॉकेट-डिबिया आदि श्रीमहेशानन्द ऐंड सन्स की दूकान से खरीद लाई हैं। मैंने भी वहाँ जाकर सीनरी-पोस्टकार्ड, दो तस्वीरें, चार डिबियाँ और आठ लॉकेट खरीदे। झाजी इत्यादि रावलजी के यहाँ जाने को उत्सुक थे। अतः दूकान पर ही सब सामान पंडे को सुपुर्द कर उनके साथ रावलजी के यहाँ गया।

कलक्टर साहब की स्त्री और बहन भी साथ थीं। सबका परिचय रावलजी से कराया। मन्दिर के प्रबन्ध की भी बातें कहीं। कलक्टर साहब की बहन जब मन्दिर में प्रसाद ले जा रही थीं, तब ऊपर-ही-ऊपर से एक बहुमूल्य आभूषण गायब हो गया, जिसे वे भगवान् के निमित्त थाल में रखे हुई थीं। उसका भी जिक्र हुआ। रावलजी उस समय अपनी कचहरी में थे, वे उस समय चन्दन प्रसाद आदि न दे सके।

लौटते समय हमने नन्दलाल बिहारीलाल साह की दूकान से शिलाजीत खरीदी। यह वहाँ की खास सौगात है। दूकानदार ने आँख की दवा और एक छोटी-सी शीशी नमूने की दी। वहाँ से आकर मैं लेट गया। रात को रावलजी के यहाँ से बिदाई-स्वरूप श्रीबदरीनारायण का उपहार आया।

उसके बाद पंडे की दक्षिणा का बखेड़ा शुरू हुआ। माँ ने

अपने पंडे से सुफल कराया। इक्कावन रुपये दिये, और सभी लोगों ने आनन्दप्रसादजी से सुफल कराया। सभी को काफी देना पड़ा—अपनी इच्छा से अधिक। आज सभी का मुंडन-संस्कार हुआ! डिप्टी साहब ने सवा सौ, वकील साहब ने पाँच कट्ठा जमीन और बीस रुपये, झाजी और तिवारीजी ने इक्कीस-इक्कीस रुपये दिये। बेचारे मुंशीजी को भी ग्यारह रुपये देने पड़े।

मेरे सुफल के समय बहुत ही बखेड़ा हुआ। संकल्प श्रीसत्यनारायण पंडा ने कराया। उनका स्वभाव बहुत अच्छा है और वे काफी धनी सेठ-पंडा हैं। किन्तु उनको विद्या के विषय में मेरी धारणा अच्छी नहीं रही। संकल्प के मन्त्र भी शुद्ध-शुद्ध नहीं पढ़ सकते थे। इससे मुझे बहुत दुःख हुआ। मैंने मजदूरी की एक रकम ठीक कर ली थी और वे फूल-माला द्वारा मेरा हाथ बाँधकर काफी पैसे निकालना चाहते थे। इसी पर बहुत झंझट हुई और अन्त में बड़ी मुश्किल से मामला तय हुआ। उन्हें मेरी बातों पर ही झख मारकर सन्तोष करना पड़ा। दान-दक्षिणा दाता की श्रद्धाभक्ति और यथाशक्ति पर निर्भर रहती है, फिर भी न जाने क्यों लोग यात्रियों को इतना तंग करते हैं। खैर, उसके बाद मेरा सम्बन्ध आनंदप्रसाद पंडा से समाप्त हो गया।

रामप्रताप नम्बरदार को मैंने अपना पंडापत्र लिख दिया। मुझे उचित भी वही बात मालूम हुई। माँ के नाते मेरा पंडा वही था और उसके आदमी शंकर ने मेरी सेवा भी काफी की थी।

रात बहुत अधिक हो गई थी। सर में दर्द तब भी था। रात में कुछ खाया नहीं। सिर्फ एक लड्डू और एक निमकी खाकर चाय पी ली।

आज श्रीबदरीनारायणपुरी में हमारी आखिरी रात थी। तीर्थ-कृत्य समाप्त हो चुके थे। जी भरकर देवता के दर्शन कर चुका था। रावलजी से बिदाई भी मिल चुकी थी। पंडों की दान-दक्षिणा भी समाप्त हो चुकी थी। और आगे जाना भी नहीं था। बस, अब एक ही बात रह गई थी—प्रत्यावर्त्तन।

तीर्थयात्रा समाप्त हो गई। माँ को श्रीबदरीनारायण के दर्शन कराने लाया था, सो दर्शन करा दिया और ठीक से करा दिया। अब अपने जिम्मे एक ही बात रह गई थी—उन्हें साथ लेकर सकुशल घर लौटना।

मैंने बाहर आकर देखा, नर-नारायण-पर्वत की चोटियाँ उसी प्रकार बर्फ से लदीं चन्द्रमा के प्रकाश में जगमग कर रही थीं। नीचे अलकनन्दा उसी वेग से बह रही थी और ऊपर आसमान में हँस रहा था पूर्णिमा का चाँद।

"ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥"

卐

प्रत्यावर्तन

जबतक हम बदरीनाथ नहीं पहुँचे थे, तबतक तो यही उत्सुकता थी कि कब वहाँ पहुँचकर देवता के दर्शन करें। किन्तु अब, जब सारे तीर्थकृत्य समाप्त हो चुके, तब यही जी में आया कि कब लौट चलें।

बदरीनाथ को हम भू-वैकुंठ कहते हैं। वास्तव में उसकी परिस्थिति वैसी है भी; किन्तु मनुष्यों के कुप्रबन्ध के कारण उस स्थान की इस समय बड़ी दुर्दशा है। गन्दगी हद दर्जे की है और सबसे ज्यादा तकलीफ है शौच करने की। उसकी जब याद आती है, कलेजा सिहर उठता है और वहाँ रहने की इच्छा नहीं होती। जबतक तीर्थकृत्य इत्यादि की धुन में थे तबतक वह उतना नहीं अखरा था; पर अब सब कुछ समाप्त हो जाने पर भागने की ही जल्दी पड़ी। फिर भी, चलने का खयाल करने पर, मोह नहीं मालूम हुआ—ऐसा नहीं कह सकते। सब कुछ होते हुए भी वह हमारा पवित्र तीर्थ-स्थान है। आसपास के सुन्दर दृश्यों को देखने से ही हृदय में एक अजीब पवित्रता का संचार हो आता है।

"बदरीवासिनो लोका विष्णुतुल्या न संशयः।
तेषां दर्शनमात्रेण पापराशिः प्रणश्यति॥"

वहाँ तीन दिन रहकर शास्त्र के अनुसार हम भी विष्णुतुल्य हो गये थे; किन्तु पूर्णिमा का चाँद जिस प्रकार एक दिन से अधिक अपनी पूर्णता स्थिर नहीं रख सकता उसी प्रकार हम भी अपनी पूर्णता स्थिर न रख सके और पूर्णिमा के चाँद के समान ही अपनी कला खोकर अवनति की ओर अग्रसर होने लगे।

उस दिन आषाढ़-कृष्णपक्ष का प्रारम्भ था और उसके साथ ही मानों हमारा भी कृष्णपक्ष शुरू हो गया। चलने के पहले यह निश्चय कर लिया था कि स्नान-दर्शन आदि करके यहाँ से चला जाय। तदनुसार तप्तकुंड में स्नान कर सीधे मन्दिर में गया; भगवान् के उसी रूप के आखिरी दर्शन किये, जिसे कल इतनी देर तक देखता रहा था। क्या जाने फिर दर्शन का सौभाग्य कब होगा।

पुरी के छोर पर पहुँचकर ऋषिगंगा में आचमन किया और आगे बढ़ चला। पुरी का मोह अभी पीछा नहीं छोड़ रहा था। रह-रहकर एक बार पीछे फिरकर देख लेता था। देव-देखणी पहुँचकर एक बार फिर पुरी के अन्तिम दर्शन किये। फिर अन्तिम प्रणाम कर आगे चल पड़ा।

फिर वे ही विकट स्थान मिले। वे ही बर्फीले पथ—वे ही नंगे पहाड़—वे ही झूले के पुल—वही फिसलाहट। सुबह नौ बजे के चले लगभग एक बजे लामबगड़ पहुँचे। वहाँ सारी दुपहरी कमरे में आराम किया। तीन बजे खाना-पीना हुआ। कुछ देर बाद फिर आगे चले।

पांडुकेश्वर उतरकर मंदिर के दर्शन किये। अन्दर बिल्कुल सन्नाटा था। कोई पुजारी भी वहाँ न था। एक द्वार बन्द ही

मिला। बाहर एक ताम्रपत्र देखने में आया, जिसकी भाषा मेरे लिये लैटिन और ग्रीक से भी बढ़कर थी।

शाम को तेरहवें मील के बाद घाट-चट्टी पर पहुँचा और एक चट्टी पर झाजी और तिवारीजी के साथ टिक गया। आज चूल्हा फिर अलग-अलग जला। फिर वही छुआछूत! फिर वही जातपाँत! फिर वही एक दूसरे से घृणा! एक ही दिन में क्या से क्या हो गया। सचमुच कितना ऊँचा उठाकर तुमने हमें कितना नीचे पटक दिया हे भगवन्! साम्य का वह स्वप्न दिखाकर फिर वैषम्य का यह दृश्य कैसा? किन्तु यही तो संसार है और इसी में रहना है।

आज हमारे साथ की 'पिआरो दाई' की तबीयत बहुत खराब रही। वह रात भर खाँसती और कराहती रही। माँ इत्यादि को नींद भी ठीक से नहीं आई। मेरे सो जाने के बाद मेरे पैताने एक बिच्छू निकला और फेकू ने उसे तुरत ही परम गति प्राप्त कराकर नीचे फेंक दिया—किन्तु मुझे मालूम हुआ दूसरे दिन, जब मैं अपनी गहरी नींद से सोकर उठा!

उस समय सुन्दर चाँदनी खिली हुई थी। उसके ही प्रकाश में उठकर मैं नित्यकृत्य से निवृत्त हुआ और यात्रा पर निकल पड़ा। राह-भर उतार-ही-उतार मिला। बीच-बीच में बकरों-बकरियों के झुंड-के-झुंड मिले, जो रुनझुन घंटी बजाते हुए इस ऊँचे पर्वत-प्रान्त में रसद पहुँचाया करते हैं। बोझा ढोने के लिये इधर इन्हें ही काम में लाते हैं, और पहाड़ पर शायद और कोई दूसरा जानवर इतना चल भी नहीं सकता।

दूसरे मील पर ताया-ब्रिज मिला, जिसे पार कर मैं अलक-

नन्दा के दूसरे किनारे पहुँचा। वहाँ अपने दल का ही एक नवयुवक मिला, जिसने बतलाया कि अपने साथ के दो आदमियों के साथ एक भयंकर दुर्घटना हुई थी; किन्तु ईश्वर की कृपा से वे दोनों ही बच गये।

'आरा' के मास्टर साहब और दौलतगंज के एक बूढ़े सुनार महाशय लामबगड़ से चले आ रहे थे। रास्ते में एक छोटे-से झरने पर लकड़ी का एक पुल था, जिसकी ऊँचाई अधिक नहीं थी। उधर दूसरी तरफ से एक घोड़ा आ रहा था। इन महाशयों ने समझा कि कुछ टेढ़े होकर उस पार निकल जायँगे; किन्तु जब घोड़े के पास पहुँचे तब टक्कर लग गई! सुनार साहब तो नीचे आ रहे और मोटे मास्टर महोदय औंधे मुँह आधा लटक गये। किन्तु ईश्वर की कृपा हुई—सुनार साहब कुछ ऐसी जगह गिरे, जहाँ उन्हें सिर्फ हल्की-सी चोट आई। हाँ, उनका लोटा नीचे धारा में बह गया। मास्टर साहब के घुटनों में चोट आई। किन्तु कुछ देर तक तो औंधे मुँह लटके ही रहे! बाद को पीछे के साथियों ने आकर उन्हें उठाया।

मेरे उस नवयुवक साथी ने जिस गम्भीरता से उस घटना का वर्णन किया, उसे देखते हुए मुझे भी गाम्भीर्य धारण करना ही पड़ा। किन्तु न जाने क्यों (शायद अपने दुष्ट स्वभाव के ही कारण) उस दृश्य का मानसिक चित्र जब सामने आया, तब बड़ी मुश्किल से मैं अपनी हँसी रोक सका। जी में यह खयाल हुआ कि जरूरत से ज्यादा अक्ल खर्च करने से ऐसी ही मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। थोड़ा ठहर ही गये होते तो क्या बिगड़ता। किन्तु उन्हें तो अपनी ही धुन थी। ईश्वर की कृपा से वे बच गये, नहीं तो कितनी बड़ी दुर्घटना हो गई होती!

ताया-ब्रिज से आगे पानी का एक झरना मिला, जहाँ छपरा-वाले सभी साथी प्रातःकृत्य के लिये ठहर गये। मैं आगे बढ़ गया। विष्णुप्रयाग तक कोई कठिनाई न हुई। किन्तु धौलीगंगा का पुल पार कर जब आगे बढ़ा तब विकट चढ़ाई का सामना पड़ा। समय-भेद तथा उद्देश्य-भेद से एक ही वस्तु किस प्रकार बिल्कुल भिन्न प्रकृति की हो जाती है, उसका यह ज्वलन्त उदाहरण मिला।

जोशीमठ जब आधा मील रह गया, तब पंडा सत्यनारायणजी मिले। वे अपने घोड़े पर सवार थे। मुझे देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ; क्योंकि मैं काफी आगे चला आया था। मेरे साथ ही एक बंगाली युवक आगे की ओर चल रहा था। मैं उसके साथ न चल सका।

कुछ देर बाद स्युङ्गधार की अलग राह मिली। मैं जोशीमठ की ओर न गया, अपनी ही राह चलता रहा। कई छोटी-छोटी चट्टियाँ पार करता हुआ आखिरी चट्टी पर पहुँचा। वहाँ पानी का आराम था। वह बंगाली युवक भी वहीं ठहरा हुआ था। मैं भी वहीं टिक गया।

कुछ देर नीचे बैठा-बैठा दूकानवाले से बातें करता रहा। दो नये-नये छोकरे थे। उनसे मालूम हुआ कि उस स्थान के ऊपर ही उनकी गोचर-भूमि है, जहाँ उनकी गौएँ गर्मी के दिनों में चली जाया करती हैं। उसी गोचर-भूमि पर 'चावला' का एरोप्लेन उतरा था। आगे शायद वहीं हवाई जहाज का स्टेशन बनेगा। अब यह अखबारों से मालूम हुआ है कि हरद्वार-बदरीनाथ-एअर-सर्विस खुल गई और उसी गोचर-भूमि पर जहाज उतरा करता है।

थोड़ी देर बाद शंकरसिंह आ पहुँचा। दूसरे पंडे के आदमी भी आ पहुँचे। उनसे मालूम हुआ कि हमारे और साथी उधर ही एक चट्टी पर ठहर गये हैं और मुझे भी उन्होंने वापस बुलाया है। किन्तु मैंने लौटना उचित न समझा; क्योंकि व्यर्थ ही दो मील की और परेशानी होती। मैंने कह दिया कि मैं आराम से हूँ, कोई चिन्ता की आवश्यकता नहीं; शंकर से खाना बनवा लूँगा। वह आदमी लौट गया।

थोड़ी ही देर बाद देखता हूँ कि माँ अपने डांडोवालों के साथ आ पहुँचीं। भला हमें अकेला छोड़कर वे कैसे रह सकती थीं। मेरे लिये वे बिल्कुल परेशान हो गई थीं। फेकू को जोशी-मठ तक दौड़ा दिया था और अन्त में मेरा समाचार पाकर यहाँ दौड़ी आईं। आज माँ का बनाया हुआ स्वादिष्ट भोजन खाया, बहुत दिनों बाद ऐसा मधुर भोजन मिला था।

कुछ देर आराम किया, तबतक पीछेवाले भी आ गये, माँ को डांडीवालों के साथ भेज दिया। फेकू भी उनके साथ ही चला गया। मैं एक घंटे के बाद (चार बजे) वहाँ से चला। बीच में वकील साहब मिल गये। धूप तब भी काफी कड़ी थी। अतः झड़कुला पहुँचकर उन्होंने कुछ देर वहाँ ठहरने का प्रस्ताव किया। हमलोग ठहर गये; किन्तु संयोगवश वहीं ठहरे जहाँ जाते समय ठहरे थे। वे ही बातें याद आ गईं—माँ का ज्वर, मेरी चिन्ता। भगवान न करे फिर वैसी चिन्ता कभी हृदय में आने पावे।

卐

फिर वही पुरानी राह

धूप जब कुछ और हल्की पड़ गई, तब हम दोनों उठे और फिर उसी पुरानी राह पर चल पड़े। एक मील बाद फिर वही छोटी-सी चट्टी मिली, जिसका नाम जानने की भी जरूरत मैंने जाते वक्त नहीं समझी थी। उतरते-उतरते अन्त में हमलोग झरने के उस पार पहुँचे, जो बदरीनाथ से पूरे पचीस मील पर है। वहीं हमें छपरावाला साधू मिला, जिसने छूटते ही हमसे कहा—"दाई तो मर गई। वही जो कंडी पर आती थी। वह शायद गंगा में प्रवाहित भी कर दी गई।"

मैं सुनकर सन्न हो गया। आखिर इस यात्रा में एक का बलिदान हो ही गया। मैं सोचने लगा कि उसके परिवारवालों पर कैसी बीतेगी। उसी समय मुझे 'पिआरो' की वह बात याद आ गई, जिसे उसने न जाने कितनी बार कहा था। जब वह घर से चलने लगी थी, उसके लड़के ने बहुत विरोध किया था। किन्तु जब वह न रुकी तब उसने गिड़गिड़ाकर अपने अभिभावकों से कहा-"हमरा माई के पहाड़े में मत छोड़ आइब।" हाय! उसके अनुरोध की कोई भी रक्षा न कर सका—आखिर अयश ही हाथ रहा!

पड़ाव पर पहुँचने पर मैंने देखा कि सभी मुँह लटकाये बैठे हुए हैं और उसकी मुक्ति की बातें कहकर एक दूसरे को सन्तोष दे रहे हैं—चारों धाम से घूम आई थी—यहाँ भी

केदारनाथ, बदरीनाथ आदि सबके दर्शन कर चुकी थी ; तब कहीं जाकर उसने प्राण छोड़े।

थोड़ी देर बाद वे पाँचों आदमी भी लौट आये जो उसका शव-प्रवाह करने गये थे। कुम्हार-चट्टी से, जहाँ हमलोग उस समय ठहरे हुए थे, कुछ ही मील नीचे अलकनन्दा बहती है। उसीके पुल पर पहुँचकर बीच पुल से उसे अलकनन्दा में फेंक दिया। बस अन्त्येष्टि क्रिया हो गई ! बही जाती होगी उसकी लाश अलकनन्दा की तीव्र धारा के साथ-साथ। अथवा कहीं किनारे पर ही चक्कर लगा रही होगी। हाय रे क्षण-भंगुर मनुष्य-जीवन !

रात को बहुत देर तक डिप्टी-साहब से बातें होती रहीं। अब सभी घर जाने को व्यग्र हो रहे हैं। अयोध्या उतरने को भी राय नहीं है। पिआरो की मृत्यु ने सबके ऊपर एक अजीब उदासी का पर्दा डाल दिया। अब यही जी में होता था कि किस प्रकार जल्दी-से-जल्दी इस पर्वत-प्रान्त के बाहर पहुँचें।

दूसरे दिन (ता० ११-६-३३ को) सुबह साढ़े तीन बजे उठ गया। प्रातःकृत्य से निवृत्त हो सवा चार बजे चल पड़ा। आज सवेरे ही नौ मील जाना था, गरुड़-गंगा तक। सुबह की हवा का आनन्द लेता हुआ आगे चला; किन्तु जी उदास था। जब अलकनन्दा की ओर देखता था, ऐसा मालूम होता था मानों पिआरो की लाश बही चली जा रही है।

उसकी मृत्यु के कारण तबीयत उचट गई थी। पीपल-कोटि में उस लड़के की मृत्यु के कारण जो उदासी दिल में पैदा हुई थी, इस घटना के कारण वह और भी बढ़ गई। अब चारों ओर

के पहाड़ बिलकुल दुर्भेद्य जेल की दीवारों-से प्रतीत होने लगे। आँखें जिधर जाती थीं, टकराकर लौट आती थीं। ऐसा जान पड़ता था मानों किसीने इस चहार-दीवारी के अन्दर हमें बन्द कर दिया हो। जी बेचैन हो गया और अपने खुले खेतों के लिये तरसने लगा। आह! कहाँ हैं हमारे वे मैदान, जहाँ आँखों को कोई रोक-टोक नहीं, हरी-भरी दूब जहाँ नयनों को शीतल कर देती है, दूर-दूर तक क्षितिज जहाँ अनन्त का आभास देते हैं; शान्त, गम्भीर, सुन्दर नदी—कलकल-छलछल करती हुई मृदुल मनोहर—यह बावली, उतावली, अट्टहासिनी नहीं, जिसे देखकर ही डर मालूम होता है और जिसमें पैठकर स्नान करने की भी हिम्मत नहीं होती। हमारे यहाँ नदी गौरी-स्वरूपा है, यहाँ भैरवी है। देखें, कब इस चहार-दीवारी से बाहर निकलते हैं।

यही सब सोचते-सोचते यों ही गुनगुनाने लगा—

अरे पथिक फिर चल निज देश।
बहुत सहे तूने इस दुर्गम पर्वत-पथ पर क्लेश॥
पर्वत की इन दीवारों से टकराते हैं नैन।
पिञ्जरबद्ध विहंग सदृश ये हो जाते बेचैन॥
अरे लौट चल, जहाँ नहीं है इनको दुख का लेश।
हरे-भरे मैदान जहाँ आँखें फिरतीं स्वच्छन्द॥
सरिता का वह सुन्दर कलरव, चाल मनोहर मन्द।
नहीं भला लगता है गिरिसरि का यह भैरव वेश॥
अरे पथिक फिर चल निज देश।

गुलाबा-कोटि से आगे चलने पर २८ वें और २९ वें मील के बीच एक जगह भूल से मैं पाताल-गंगा की पगडंडी समझकर नीचे उतर गया। आते समय पाताल-गंगा के पास एक पग-

डंडी देखी थी। मैंने भूल से इसे ही वह पगडंडो समझ ली। अधिक चतुर होने का यही फल होता है। चौबे गये छब्बे होने, हो गये दुबे!

कुछ ही दूर आगे चलने पर अपनी भूल मालूम हुई। किन्तु अब लौटना भी कठिन हो मालूम हुआ। अभी कुछ और भोगना बाकी था। अतः आगे ही बढ़ता गया। अन्त में भटकता-भटकता एक गाँव में पहुँचा। छोटे-छोटे मकान थोड़ी-थोड़ी दूरी पर थे। पूछने पर मालूम हुआ, गाँव का नाम 'लंगसी' है। गाँववालों ने कहा, इस रास्ते पाताल-गंगा नहीं पहुँच सकते। उन्होंने एक दूसरा रास्ता बतला दिया और हमें लाचार हो उसीका सहारा लेना पड़ा।

कुछ दूर चलने पर खेतों की सीढ़ी मिली। प्रत्येक खेत की ऊँचाई हमारे बराबर थी और कहीं-कहीं ऊपर जाने के लिये पत्थर निकले हुए थे। मैं पहले छाता ऊपर फेंक देता था, फिर एक हाथ से एक छोर पकड़ दूसरे से लाठी टेक ऊपर उछल जाता था। इस प्रकार काफी उछलना पड़ा। कुछ देर बाद ऊपर प्रधान पथ पर आ पहुँचा। आठ बजे गरुड़-गंगा पहुँच गया और फिर उसी पुराने स्थान पर ठहरा, किन्तु एक आदमी को खोकर!

थोड़ी देर बाद शंकर आया। कच्चे दूध की लस्सी पी; क्योंकि पथश्रम के कारण पेशाब में रक्त का आभास दिखलाई दिया था। दोपहर में पेशाब की रंगत बहुत-कुछ ठीक हो गई।

फिर तीन ही बजे चलने की तैयारी होने लगी। आकाश मेघाच्छन्न होने के कारण बाहर ठंढक-सी मालूम हुई। आखिर

सभी चल पड़े। तिवारीजी हमारे साथ थे। काकाजी भी थे। साथ चलने में आनन्द आ रहा था।

पीपल-कोटि पहुँचकर कुछ देर किशोरीलाल की दूकान पर ठहरा। मृगचर्म, शिलाजीत और कुछ पहाड़ी बूटियाँ खरीदी गईं। इस बार किशोरीलाल ने अल्मोड़े की एक मिठाई भेंट दी, जिसे शायद 'बाल की मिठाई' कहते हैं।

वहाँ से चलने पर कुछ देर बाद ही पानी बरसना शुरू हो गया। पीपल-कोटि से सियासैन तक बराबर बरसता ही रहा। किन्तु वेग उसका अधिक नहीं था। समय काफी सुहावना मालूम होता था। रास्ते में कोई तकलीफ नहीं जान पड़ती थी।

पीपल-कोटि से एक मील आगे बढ़ आने पर एक पगडंडी मिली, जिससे हमलोग नीचे की ओर चले। रास्ता विकट उतार का था। पत्थरों पर पैर गड़ा-गड़ाकर उतरना पड़ता था, जिस पर वर्षा के कारण और भी फिसलन हो गई थी। फिर भी रास्ता सकुशल तय हो गया।

अलकनन्दा का पुल पार करने पर रास्ता सुगम मिला। एक ओर छोटी पहाड़ियाँ थीं, दूसरी ओर अलकनन्दा। बरसात के कारण मौसम और भी भला मालूम होता था। राह चलने में भी आनन्द आता था।

कुछ दिन रहते ही हमलोग सियासैन पहुँच गये। उस समय ऊँचे पहाड़ पर डूबते हुए सूरज की किरणें चमक रही थीं। आज हम पूरे सोलह मील चले। राह में उतनी परेशानी हुई, फिर भी पड़ाव पर पहुँच जाने पर थकावट बिल्कुल न मालूम हुई।

जाते समय यदि कोई हमसे एक दिन में सोलह मील चलने को कहता, तो शायद उससे झगड़ा हो जाता। किन्तु इस समय हमारी हालत ताँगे के घोड़े के समान हो गई थी, जो शाम को घर लौटते समय विना चाबुक के ही तेजी के साथ भागता है।

दूसरे दिन कुछ और सवेरे उठा। पिछले पहर की विमल चाँदनी में प्रातःकृत्य से निवृत्त हो आगे चल पड़ा। फिर वे ही पुराने दृश्य आँखों के आगे से गुजरे। वही बौंला-ब्रिज, वही छिनका। आगे कुछ चढ़ाई मिली, उसके बाद फिर उतार और बराबर का रास्ता। बाँस की डलिया देखने में आई, किन्तु खरीदी नहीं; क्योंकि सुना कि आगे भी यथेष्ट संख्या में मिलेगी, यद्यपि अन्त में निराश ही होना पड़ा !

मठ के उस स्थान से गुजरा, जहाँ एक रात ठहरा था। सुबह के प्रकाश में उसकी सुन्दरता और भी खिल रही थी। चमेली के फूल, बेले के फूल, गुलाबी कनेर के फूल देखने में आये। मैंने बेले का एक फूल तोड़कर रख भी लिया।

धीरे-धीरे अलकनन्दा के पुल के पास पहुँचा। सामने चमोली थी और दूसरी ओर था वही पूर्व-परिचित पथ, जो गुप्तकाशी से आता है। मैंने एक बार हसरत-भरी निगाह से उसे देखा। फिर पुल पार कर दूसरी ओर आ गया।

पुरानी राह समाप्त हो गई।

卐

नन्दप्रयाग-कर्णप्रयाग

[१]

'चमोली' गढ़वाल को एक प्रसिद्ध तहसील है, जहाँ सरकारी कचहरी, डाकघर, अस्पताल इत्यादि सभी वर्त्तमान हैं। मेरी बड़ी इच्छा थी कि वहाँ कम-से-कम एक दिन ठहरकर कुछ लोगों से मिल लेता; क्योंकि सुना था वहाँ हिन्दूविश्वविद्यालय (काशी) के कुछ पुराने छात्र रहते हैं और उनके साथ अवश्य ही काफी आनन्द आता। किन्तु इस समय एक तो मैं अकेला नहीं था और दूसरे घर जाने की भी जल्दी पड़ी हुई थी। अतः पुल पार कर जब मैं चमोली पहुँचा, तब बाबा काली कमलीवाले की धर्मशाला के पास कुछ ठिठक गया। तबतक बाजार की ओर एक मकान के मुँड़ेरे पर सेठ सत्यनारायण पंडाजी दिखलाई पड़े। मैं उन्हींकी ओर मुड़ा। वे भी नीचे उतर आये और बड़े तपाक से मिले।

फिर उनके साथ ही मैं श्रीनन्दनसिंह रावत के यहाँ गया। वे वहाँ वकालत करते हैं। मुद्दत गुजरी जब वे मेरे साथ फर्स्ट होस्टल 'ए' ब्लाक में रहते थे। उनके छोटे भाई कुन्दनसिंह मेरे साथ पढ़ते थे और इन दिनों लैंसडाउन में वकालत करते हैं।

नन्दनसिंहजी से मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। उनसे यह भी मालूम हुआ कि वहाँ के वर्त्तमान सबडिवीजनल अफसर ठाकुर जयकृतसिंहजी उनके सम्बन्धी हैं। रिश्ता साला-बहनोई का है;

किन्तु कौन किसका साला है, इसको हमें ठीक याद नहीं ! ठाकुर साहब भी अपने पुराने सेंट्रल-हिन्दू-कालेज के 'ओल्ड ब्वाय' हैं। उनसे न मिलने का हमें बहुत दुःख हुआ।

रावतजी के साथ लगभग एक घंटा विश्वविद्यालय की बातें होती रहीं; किन्तु अधिक देर होती देख मैंने उनसे बिदा माँगी। उन्होंने मेरे ठहरने के लिये बहुत आग्रह किया। किन्तु ठहरना कठिन था। वे कुछ दूर तक हमें पहुँचाने आये। पहाड़ की छाया में धूप नहीं लगती थी और बातें करने में भी आनन्द काफी आ रहा था। तबतक हमारे बूढ़े काकाजी आ पहुँचे। रावतजी भी काफी दूर तक चले आये थे। अब उन्हें फुर्सत देना ही ठीक समझा। वे पीछे लौट गये और हम दोनों आगे चल पड़े।

यह रास्ता हमारे लिये बिल्कुल नया था, हालाँकि अलकनन्दा वही थी। यदि हम रुद्रप्रयाग से सीधे बदरीनाथ गये होते, तो इसी रास्ते आना पड़ता। किन्तु हमें तो श्रीकेदारनाथ का दर्शन करना था, अतः हम उसीकी ओर मुड़ गये थे और फिर चमोली आकर बदरीनाथ की राह पकड़ी थी। इसीसे इस उत्तराखंड के पञ्चप्रयागों में दो के दर्शन हमें अभी तक न हो सके थे। देव-प्रयाग, रुद्र-प्रयाग और विष्णु-प्रयाग को तो देख ही चुके थे। इस लौटती यात्रा में नन्द-प्रयाग और कर्ण-प्रयाग का भी दर्शन कर लेना था।

चमोली से दो ही मील पर कोहेड़-चट्टी मिली। रास्ता सीधा था, चट्टी भी अच्छी थी। दिन का पड़ाव भी वहीं डालना था। अतः पानी की सुविधा देखकर एक जगह टिक गया।

सामने नहर बह रही थी। आराम काफी था। थोड़ी देर बाद सभी आ पहुँचे और नित्य का चर्खा शुरू हुआ। कलक्टर साहब के लोग उस पार ठहरे; किन्तु उधर पानी का कुछ कष्ट था।

मैंने कुछ आराम करने के बाद दाढ़ी बनाई—तेल लगाया। फिर कौतूहलवश नहर का अन्त देखने चल पड़ा। देखा कि पाँच-छः आटे की चक्कियाँ यहाँ पास-ही-पास एक ही नहर से चल रही हैं। पानी के पास ही पोदीने का जंगल था—इफ़रात। उसी समय मेरी समझ में आया कि किस प्रकार पंडे के नौकर हर जगह पोदीना लाकर हाजिर कर देते थे। प्रायः प्रत्येक नहर के किनारे पोदीना मिलता ही रहता है।

मैं उधर से पोदीने के कुछ पत्ते लेता आया। फिर नहर में लोटे से स्नान किया। उसके बाद खाना-पीना हुआ; फिर थोड़ा आराम। माँ की खाँसी उन्हें बेतरह तंग कर रही थी। इससे कुछ चिन्ता हुई। लगभग चार बजे आकाश फिर मेघाच्छन्न हो आया, इससे राह बिल्कुल ठंढी हो गई। सभी आगे जा चुके थे। अन्त में मैं भी तिवारीजी और काकाजी के साथ चला। तेजी से चल रहा था। अतः थोड़ी ही देर बाद उनका साथ छूट गया।

दाढ़ीवाले बंगाली बाबू, जो बाद को मालूम हुआ कि शायद कलकत्ता-चार्टर्ड-बैंक में कोई काम करते हैं, पीछे से तेजी से चले आ रहे थे। कल दिन में स्युंगधार में और रात में कुम्हार-चट्टी में वे हमारे पड़ोस में टिके थे। बड़े ही मजेदार आदमी थे। कल मुझे ग्लिसरिन-सोप लगाते देखकर बोले कि इधर-उधर के

साबुन क्यों लगाते हो, बस यदि कोई साबुन है तो 'कार्बोलिक' ; वही क्यों नहीं लगाते ? मुझे हँसी आ गई। बंगाली बाबू को सफाई का बहुत खयाल था। इतना रगड़-रगड़कर स्नान करते थे कि जान पड़ता था मानों बदन का चमड़ा छिल जायगा।

उन्हें तेजी से चलते देखकर मैंने भी अपनी चाल तेज की। बड़े वेग से चले हम दोनों ही। उस वेग के आगे सभी पीछे पड़ गये—पैदल यात्री, डांडीवाले, घोड़ेवाले, सभी। किन्तु बंगाली बाबू की तेजी गजब की थी। मैं तो बिल्कुल परेशान-सा हो गया।

राह अच्छी थी। पास ही अलकनन्दा बह रही थी और ऊपर आसमान में मेघ छाये हुए थे। रास्ता जल्दी-जल्दी कटता गया, एक जगह मैंने देखा कि कुछ कुली चीड़ की एक बड़ी-सी सिल्ली लुढ़काते हुए चले आ रहे थे। नीचे गोली लकड़ी रख देते थे। उसके सहारे वह कुछ दूर लुढ़क आती थी। इसी प्रकार शोर मचाते हुए, लुढ़काते हुए, वे उसे लिए चले जा रहे थे। उनके कारण एक जगह कुछ रुकना पड़ा। फिर आगे बढ़ा।

दो मील पर मैठाणा-चट्टी मिली। अच्छी चट्टी थी। सामने एक जगह पानी का नल देखकर खयाल हुआ कि वहाँ पानी का भी आराम है। वहीं एक जगह गंगा-मनोरंजन-धारा भी देखी। 'मनोरञ्जन' नाम का संयोग देखकर उसके विषय में कुछ विशेष जानने का कौतूहल हुआ। किन्तु बंगाली बाबू सर पर थे ; ठहरता कैसे ! वैसा करने में मैंने हतक समझी। अतः आगे बढ़ता गया। रास्ते में कहीं-कहीं हल्की-सी चढ़ाई भी मिली; किन्तु उल्लेखनीय नहीं।

नन्द-प्रयाग के पास पहुँचने पर हल्की-हल्की वर्षा शुरू हो गई। मैठाणा से तीन मील चलने पर नन्द-प्रयाग मिला। बस्ती काफी बड़ी मालूम हुई। झाजो ने गौरीधारा के पास चट्टी ठीक
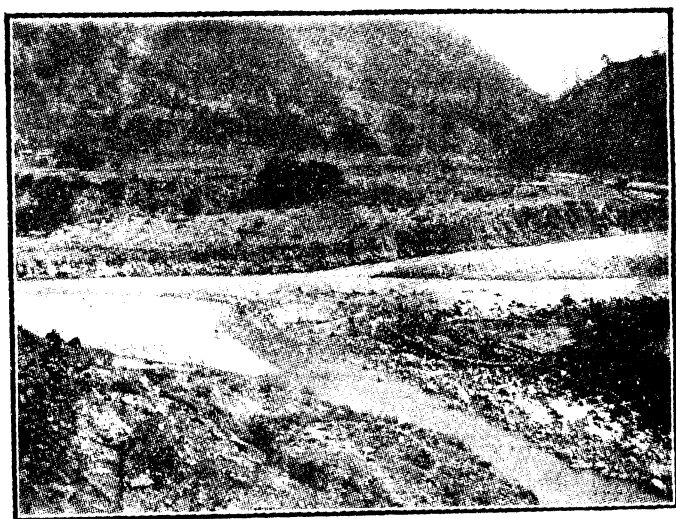
नन्द-प्रयाग (मन्दाकिनी और अलकनन्दा का सङ्गम)

की थी; किन्तु हमलोगों का वहाँ गुजर नहीं हो सकता था। अतः हमलोग कुछ आगे बढ़कर महेशानन्द ऐंड सन्स को दूकान के पासवाले नल के सामने टिके।

मकान अच्छा था। ऊपर अच्छा-सा दालान था, जिसमें हम टिके थे। बगल में एक कोठरो थी, जिसमें माँ जी लोग रहीं। उधर एक दालान था, जिसमें सभी नौकर टिके। उसके बाद चूल्हा था। सबके अन्त में था एक सुन्दर आँगन लम्बा-

सा, जिसमें एक ओर बेला और दूसरी ओर चमेली के फूल खिले हुए थे। बिल्कुल वसन्त की बहार-सी मालूम हो रही थी। भीनी-भीनी खुशबू से चित्त प्रसन्न हो जाता था। अन्दर ही की ओर एक किनारे शौचादि का भी प्रबन्ध था। ठहरने की इतनी अच्छी जगह और कहीं भी नहीं मिली थी।

पैर धुलाकर चाय पीकर मैं महेशानन्द की दूकान पर गया। एक बार और भी उधर गया था; किन्तु उस समय वहाँ कोई था ही नहीं। हाँ, एक नन्हा-सा चार-पाँच वर्ष का बालक मुझे जबरदस्ती चीजें दिखलाकर दूकानदारी करने का प्रयत्न कर रहा था।

सामने के दूकानदार से बातें करने पर मालूम हुआ कि यहाँ न तो चमर मिलेगा, न मृगचर्म। बड़ा ही धोखा हुआ। पीपल-कोटि में किशोरीलाल ने कहा था कि नन्द-प्रयाग में ये सभी चीजें मिलती हैं; किन्तु यहाँ आने पर कोरा जवाब मिला। माँ को इनकी जरूरत थी; किन्तु जब मिलती ही नहीं तब करता क्या! लाचार चुप रह जाना पड़ा।

महेशानन्दजी की दूकान में उनका छोटा लड़का रमेशचन्द्र मिला। वह श्रीगोविन्द नौटियाल का छोटा भाई है और दोनों भाइयों की सूरत बिल्कुल मिलती-जुलती है। वहीं एक दूसरा नवयुवक श्रीदेवकीनन्दन वैष्णव भी मिला। मैंने उन्हें अपनी 'अरे बटोही, चल उस ओर' वाली कविता सुनाई। दोनों को ही मेरा गीत पसन्द आया। उनसे बहुत देर तक बातें हुईं। उनसे ही मालूम हुआ कि नन्द-प्रयाग से तीस मील का एक रास्ता 'गरुड़' जाता है। वहीं मोटर भी मिल जाती है, किन्तु वह

रास्ता अच्छा नहीं है। उनसे बातों में लगे रहने के कारण मैं और कहीं इधर-उधर न जा सका।

नन्द-प्रयाग बाजार अच्छा है। हमारे डांडी-कुली कपड़ों के लिये बहुत तंग कर रहे थे। दो ही तीन दिन बाद उन्हें हमसे अलग होना था। अतः फी आदमी एक कमीज और एक धोती खरीद दी।

नन्दप्रयाग हमलोगों का पवित्र तीर्थ-स्थान है। यहाँ मन्दाकिनी गंगा और अलकनन्दा का संगम है। किन्तु दूर होने के कारण मैंने स्नान नहीं किया। नन्दजी का मंदिर दूर से ही देखा; पर उनके दर्शन न कर सका। पता नहीं, ये नन्दजी कौन हैं। मैंने तो इनके विषय में सिर्फ इतना ही पढ़ा कि—

"नन्दोनाम महाराजो धर्मात्मा सत्यसङ्गरः।
यज्ञश्चकार विधिवद्बहुन्नं भूरिदक्षिणम्॥"

उस स्थान के माहात्म्य के विषय में पढ़ा कि—

"तत्र सन्निहितो विष्णुर्लक्ष्म्या सह शिवेन च।
स्नानमात्रेण पापौघा नाशं यान्ति न संशयः॥"

अफसोस, मैं वहाँ स्नान न कर सका!

[२]

नन्दप्रयाग से कर्णप्रयाग सिर्फ बारह मील है। फिर भी हमलोगों की इच्छा थी कि उस रात को पड़ाव वहीं पड़े। निश्चित हुआ कि दिन के समय 'लंगासू' में ही, जो वहाँ से छः ही मील है, ठहरा जाय; रात में फिर कर्णप्रयाग पहुँच जायँगे।

तारीख १३-६-३३ को सवेरे ही मेरी नींद खुल गई। इतना

कम चलना था; किन्तु इच्छा न हुई कि इतना सवेरे चला जाय। फिर भी, लेटे-लेटे जब नींद नहीं आई, तब लाचार हो साढ़े तीन बजे उठ गया, और प्रातःकृत्य समाप्त कर आगे की ओर चल पड़ा।

उस समय तक सुबह की सफेदी आसमान में नहीं आई थी। हल्का-हल्का अन्धकार चारों ओर छाया हुआ था। आगे कुछ दूर नन्दागिनी (?) के किनारे-किनारे चलता रहा। फिर पुल द्वारा उसे पार कर थोड़ी देर बाद अलकनन्दा के किनारे आ गया। यहाँ सड़क बिल्कुल घोड़े की नाल के समान घूम गई है। इसमें करीब आध मील का चक्कर पड़ जाता है। आगे खच्चर-पड़ाव पर देखा कि पंडाजी बैठे हुए तिवारीजी और कलक्टर साहब के एक नौकर के लिये घोड़ा ठीक कर रहे हैं। उन्होंने लंगासू ठहरने को कहा।

थोड़ी दूर आगे चलने पर सुबह की सफेदी आसमान में छा गई और प्रभात के उज्ज्वल प्रकाश में मैंने आसपास का सुहावना दृश्य देखा। सड़क अच्छी सीधी थी। चारों ओर चीड़ के जंगल थे, जिनके साफ-सुथरे सीधे पेड़ों के नीचे सूखे पत्तों का चिकना मखमली फर्श देखकर मन आप-ही-आप उनपर फिसल पड़ता था। पास ही अलकनन्दा अठखेलियाँ करती हुई बह रही थी। उधर वृक्षों पर चिड़ियों की तान अलग ही प्राणों में मीठी गुदगुदी-सी पैदा कर रही थी। नदी के किनारे हरे-भरे खेत काफी सुहावने प्रतीत होते थे। मैंने एक बार पीछे की ओर मुड़कर देखा—दूर, बहुत ही दूर, हिमालय की बर्फीली चोटी दिखलाई दे रही थी, जिसपर पड़कर प्रभात-कालीन सूर्य की

किरणें मुस्करा रही थीं। मुझे मोह मालूम हुआ। जी में हुआ कि आखिर ये सारे दृश्य हमसे छूट रहे हैं। हृदय से एक आह निकली—

बटोही फिर यह मीठी तान।
फिर न मिलेगा सुनने को यह मधुर मनोहर गान॥
हिम की ऊँची चोटी पर इन किरणों का मुसकाना।
पर्वत के सुन्दर प्रभात में चिड़ियों का यह गाना॥
धीरे-धीरे हो जायेंगे सारे स्वप्न-समान॥ बटोही०
गिरि-सरिता का यह अल्हड़पन, खेल चपल लहरों का।
चीड़-विपिन की सुरभि लिए सुन्दर समीर का झोंका॥
पयस्विनी के सुन्दर तट पर ये लहराते धान॥ बटोही०

आज सचमुच इन्हें छोड़ने का खयाल कर अन्दर से हृदय मसोस उठा। यह बिछोह बहुत अखरा। मानों हृदय में भावों का घात-प्रतिघात सदा चलता ही रहता है। इधर कुछ दिनों से मेरे हृदय में 'अरे पथिक, फिर चल निज देश' का जो भाव रह-रहकर आता रहता था, जान पड़ता है कि आज का भाव ठीक उसी का जवाब है।

मैं यही सब सोचता हुआ आगे बढ़ता चला। बीच में गौरीफल और किरमोरा आदि भी मिले, जिन्हें देखकर केदार-खंड की याद आ गई। बहुत दिनों बाद करौंदे के फूलों की खुशबू मिली। अंजीर-अनार आदि के वृक्ष भी दिखलाई पड़े।

तीन मील चलने पर सोनला-चट्टी मिली। ठहरने के लिये यह बुरी नहीं थी। उसके कुछ दूर आगे बढ़ने पर एक पगडंडी

मिली, जिससे एक मील का चक्कर बच जाता था; किन्तु दूध का जला मट्ठा फूँक-फूँककर पीता है। मुझे लंगसी की यात्रा याद आ गई। आज भी तो लंगासू की यात्रा है। फिर वही गलती कौन करे ?

थोड़ी दूर और चलने पर एक बहुत ही सुन्दर झरना मिला, जहाँ हाथ-पाँव धोये। वहाँ कुछ देर ठहरने की इच्छा हुई, पर थोड़ी ही दूर पर चढ़ाई थी; अतः उसे तय कर लेने का ही निश्चय किया। बदरीनाथ से साठवें मील पर पहुँचने में जब दो फर्लाङ्ग बाकी थे, तब एक कड़ी-सी चढ़ाई दिखलाई दी। किन्तु वह जल्दी ही तय हो गई। दो फर्लाङ्ग से अधिक नहीं चलना पड़ा। हालाँकि नीचे से देखने पर ऐसा मालूम होता था मानों बहुत ऊपर चढ़ना पड़ेगा।

उसके बाद उतार-ही-उतार मिला। इकसठवें मील के बाद लंगासू था। अलकनन्दा उससे काफी दूरी पर बह रही थी। बीच में समतल खेत थे।

नन्दप्रयाग से इधर का दृश्य गढ़वाल के समान बिल्कुल नहीं मालूम हुआ। उन ऊँचे-ऊँचे दिग्गज के समान पर्वतों का कहीं पता भी न था। इधर बहुत-से मकान लाल रंग से रँगे हुए बड़े ही सुंदर दिखलाई देते थे। लोगों से मालूम हुआ कि वे इधर की ही एक विशेष प्रकार की मिट्टी द्वारा रँगे गये हैं।

लङ्गासू काफी निचाई पर है। वहाँ गर्मी भी मालूम हुई। जहाँ हमलोग ठहरे हुए थे, उसके सामने पानी का एक नल था, जिससे जल अधिक नहीं आता था। हाँ, पीछे एक धारा-सी बह रही थी, जिसमें बर्त्तन साफ करने की सुविधा थी। ऊपर

एक प्याऊ भी था, जहाँ अलकनन्दा का ठंढा—किन्तु मटमैला जल पीने को मिलता था।

बाद को मुझे मालूम हुआ कि कुछ ही दूर आगे बढ़ने पर एक और सुन्दर-सा मकान मिलता—बिल्कुल नहर के किनारे, वहाँ बहुत आराम था, पानी की भी सुविधा थी; किन्तु जब चूक ही गये तब फिर क्या! तिवारीजी इत्यादि वहीं ठहरे।

आज बहुत दिनों बाद कच्चे आम की चटनी खाने को मिली। खाने के बाद कुछ देर आराम किया, उठने पर डायरी लिखी। एक लड़की 'काफल' बेंचने आई। उससे एक पैसे का फल लेकर खाता रहा और लिखता रहा। उसी समय 'काफल का फल' की कहानी याद आ गई। शब्द-श्लेष का कैसा अच्छा उदाहरण है!

कहते हैं कि इसी शब्द को लेकर इधर के एक यात्री और एक काफल बेंचनेवाले में झगड़ा भी हो गया था। यात्री ने उसे एक नवीन फल बेंचते हुए देखकर अपने सहज स्वभाव से पूछा—"का फल है?" उसने भी सहज भाव से उत्तर दिया—"काफल है।" यात्री ने समझा कि यह मुझे चिढ़ा रहा है। बस, दोनों में झगड़ा हो गया, जो कुछ लोगों के बीच-बचाव करने से ही शान्त हुआ।

चार बजे के लगभग आकाश में मेघ घिर आये। चारों ओर ठंढक हो गई और हम आगे पड़ाव के लिये चल पड़े। लङ्गासू के बाद कर्णप्रयाग तक भी रास्ता अच्छा ही मिला। दो मील पर जैकंडी-चट्टी मिली; किन्तु वह बहुत छोटी थी।

लगभग छः मील चलने पर दूर से ही पिंडर-गङ्गा और

अलकनन्दा का सङ्गम देखने में आया। पिंडर-गङ्गा पार कर उस ओर जाना था। उसके इधर ही राजा कर्ण का मन्दिर था। बहुत-सी सीढ़ियाँ तय कर वहाँ तक पहुँच पाये, किन्तु स्थान बहुत ही सुन्दर मिला। वहीं उमादेवी का मन्दिर भी था।

बहुत-से यात्रियों ने इसी समय तीर्थ-स्नान भी कर लिया, क्योंकि कर्णप्रयाग की बस्ती बहुत ऊँचाई और बहुत दूरी पर है। सवेरे आने में बड़ी कठिनाई थी और तिसपर आगे बढ़ने की धुन में उसका खयाल करना भी गैरमुमकिन-सा ही था।

मैंने तो न स्नान किया न मार्जन। इतनी दूर से चला आ रहा था। तुरत स्नान करने से तबीयत खराब हो सकती थी, तिसपर आसमान में मेघ भी छाये थे। अतः चुपचाप पिंडर-गंगा पार कर दूसरी ओर चला आया।

पुल पर से ही देखा कि पिंडर-गंगा का जल कुछ साफ था। मन्दाकिनी और भागीरथी से तो इसकी तुलना नहीं हो सकती; किन्तु अलकनन्दा की अपेक्षा साफ अवश्य था। धारा भी उतनी तेज नहीं थी। एक ओर किनारे पर बालू की रेत पड़ी थी, जिससे कुछ-कुछ अपनी ओर की नदी का भान हो आता था।

इस पार आने पर एक ब्राह्मण मिला, जो यों ही एक आसन पर बैठा-बैठा घंटी बजा रहा था—"कर्णप्रयाग आखिरी तीर्थ है। गंगा से अब साथ छूट रहा है।" उसकी बातें हृदय में लगीं। जी में हुआ, ठीक ही अब अलकनन्दा का साथ छूट रहा है। मैंने उससे गंगाजल लेकर आचमन किया, और दक्षिणा देकर आगे बढ़ा।

ऊपर चढ़ाई का रास्ता था। मोड़ पर अस्पताल था। उसके उधर से चुपचाप चला जा रहा था हरद्वार-बदरीनाथ-रोड। आज उसका भी साथ छूट रहा है। दूर ही से चमकती हुई अलकनन्दा की धारा भी दिखलाई दी। मैंने हसरत-भरी निगाहों से एक बार उसे जी भरकर देखा। फिर उसे अन्तिम प्रणाम कर कर्णप्रयाग की बस्ती की ओर मुड़ गया। बस्ती काफी बड़ी और सुन्दर थी। सभी प्रकार की दूकानें थीं। गंगोत्री का जल भी बिक रहा था।

वर्षा शुरू हो गई। एक चट्टी पर पड़ाव ठीक किया और सब साथ ही ठहरे। काफी आराम की जगह मिल गई थी। वहाँ पहुँचने पर देखा कि माँ खाँसी से परेशान हैं, कुछ-कुछ ज्वरांश भी मालूम होता था। पैर धुलाकर चाय पीकर अस्पताल की ओर चला। पानी उस समय भी बरस रहा था, छाता ले लिया।

अस्पताल पहुँचने पर बाहर से अँधेरा दिखलाई दिया। डाक्टर साहब के विषय में पूछा, तो मालूम हुआ कि वे ऊपर बैठे बातें कर रहे हैं। उधर पानी बरस रहा था। मैं ऊपर जा पहुँचा। मेरा परिचय पाकर डाक्टर बख्तावरसिंह मुझसे बड़े ही प्रेम से मिले। वहाँ सैनिटरी-इन्सपेक्टर ठाकुर आलमसिंह और उनके मित्र भी थे।

बदरीनाथ-यात्रा की बातें चलीं। उन्होंने वहाँ की कुछ ऐसी शिकायतें कीं, जिन्हें सुनकर मैं काँप गया। किन्तु उनका जिक्र मैं यहाँ नहीं कर सकता। सैनिटरी-इन्स्पेक्टर, जिन्हें यहाँ की भाषा में 'पेश्कार' कहते हैं, बड़े ही हँसमुख जीव हैं। उनसे ख्वाहमख्वाह मेहतरों की बात चल गई कि वे किस प्रकार यात्रियों

को तंग करते हैं। उनके साथी ने एक मजेदार कहानी सुनाई कि फाटाचट्टी के पास किस प्रकार एक मेहतर हेल्थ-अफसर की मेम साहबा की डांडी रोककर खड़ा हो गया—"ओ माई, पैसे देती जा।" मेम साहबा ने अपने साहब से कहा—"तुम्हारा मेहतर विना पैसे के मुझे न जाने देगा।"

बाहर पानी जोरों से बरस रहा था। कुछ वेग कम हुआ तो डाक्टर साहब ने अस्पताल में आकर खाँसी की दवा बनवा दी। उनके सुन्दर स्वभाव तथा सहानुभूति-पूर्ण व्यवहार से मेरे हृदय में कृतज्ञता के भाव उमड़ पड़े। आलमसिंह मुझे पड़ाव तक पहुँचा गये।

आज बदरीनाथ के गणों की बिदाई थी। पंडा अपने नौकरों के साथ हमसे अलग हो रहा था। मेरा शंकरसिंह भी आज मुझसे बिदा हो रहा था। यहीं तक उन लोगों ने अपनी सीमा मुकर्रर कर ली है। तीर्थ-लाइन यहीं समाप्त हो जाती है। इसके बाद तो अपने-अपने घर जाने की बात रहती है।

अब आगे हमलोगों को ही जाना था। साथ में राह बतलानेवाला भी कोई न था। ये 'गाइड' अपना मतलब पूरा होने पर पल्ला झाड़कर अलग हो गये। आते वक्त छपरे से ही साथ आये और काम समाप्त होते ही बीच राह में हट गये। भला हमलोगों ने तो कुछ नहीं दिया था, लेकिन जिसने तीन हजार रुपये दिये थे, उसे तो कम-से-कम ठिकाने की जगह तक पहुँचा देना चाहिये था; लेकिन इतना खयाल उन्हें कहाँ! "ये यार किसके? काम हुआ खिसके!"

आज एक अध्याय और समाप्त हुआ। अलकनन्दा छूटी।

हरद्वार-बदरीनाथ की सड़क भी छूटी। वे पंडे और गुमाश्ते भी अलग हो गये, जिनसे एक महीने तक दिन-रात का अभिन्न साथ रहा। अब आगे अपनी राह आप ही तय करनी है; किन्तु मुझे इसकी फिक्र नहीं थी। पहले कौन-सी अधिक सहायता इन लोगों ने की थी जो अब झींखूँ। हाँ, दूसरे कुछ लोग परेशान भी थे और दुखी भी।

卐

आदिबद्री-खेतीबद्री

श्रीबदरीनारायणपुरी से लौटते समय पंजाब इत्यादि पश्चिमी प्रान्तों के यात्री तो सीधे हरद्वार चले जाते हैं; किन्तु जिन्हें पूरब की ओर जाना रहता है वे कर्णप्रयाग से मेलचौरी का रास्ता लेते हैं। वहीं गढ़वाल की सीमा समाप्त होती है और यात्रापथ के बोझावाले कुली, डांडीकुली आदि भी अलग हो जाते हैं। फिर यात्रियों को दूसरे कुली करने पड़ते हैं। वहाँ से पहले तो लोग प्रायः रामनगर जाया करते थे; किन्तु जब से रानीखेत का रास्ता खुला है तब से बहुत-से यात्री रामनगर के बदले रानीखेत ही जाने लगे हैं।

कर्णप्रयाग से चलने पर तुरंत ही नये रास्ते का भान होने लगता है। अलकनन्दा के बदले पिंडर-गंगा का साथ होता है और नये पथ-सूचक पत्थर भी मिलने लगते हैं, जिनपर हरद्वार-बदरीनाथ के बदले लिखा रहता है कर्णप्रयाग—१, खैरना ७९, रानीखेत ५९।

हमलोगों ने रानीखेत जाने का निश्चय कर लिया था; किन्तु बहुत दूर तक रानीखेत और रामनगर का पथ एक ही होने के कारण उसी पर चलना पड़ा। दो मील पर एक छोटी-सी चट्टी मिली, जिसका नाम 'गोविन्द' अथवा 'पाटी-चट्टी' था। पौने चार मील पर सिमली-चट्टी मिली, जो काफी बड़ी थी। उसके कुछ ही दूर आगे तक पिंडर-गंगा का साथ रहा। जहाँ एक छोटी-

सी नदी के साथ इसका संगम हुआ है, वहीं इसका साथ छूट गया। सामने ही एक रास्ता पिंडर-गंगा के किनारे-किनारे जाता हुआ दिखलाई दिया। पूछने पर पता चला कि वह बागेश्वर की ओर जाता है। उधर ही कहीं पिंडारी ग्लेशियर (हिमधारा) है, जहाँ से यह गंगा निकली है।

छोटी नदी के ऊपर एक झूले का पुल था, जिसे पार कर दूसरी ओर जाना पड़ा। वहीं दोनों रास्ते अलग-अलग हुए—एक बागेश्वर की ओर चला, दूसरा रानीखेत को। पुल के बाद रानीखेत की राह में कुछ दूर तक चढ़ाई ही मिली। इधर पुराने रास्ते की कुछ झलक-सी दिखाई दी। ऊँचे पहाड़, दोनों ओर सघन वृक्ष, नीचे बहती हुई छोटी-सी नदी। राह कभी सीधी मिलती थी और कभी चढ़ाई की। छठे मील पर सिरौली मिली और सात मील पाँच फर्लाङ्ग पर भटौली। तिवारीजी से भटौली ही ठहरने का विचार हुआ था। जगह अच्छी थी—छोटी-सी। पास ही पानी का नल था। उधर थोड़ी ही दूर पर ऊपर से सुन्दर झरना झर रहा था। जगह सामने को कुछ खुली हुई थी। आसपास सुन्दर वृक्ष खड़े थे और नीचे—बहुत ही नीचे—पतली-सी नदी बह रही थी। मैंने एक अच्छी-सी जगह चुनकर वहीं पड़ाव डालने का निश्चय किया। पास ही एक बड़ा-सा शिलाखंड था, जिस पर मजे में बैठकर मेवा खाया, पानी पिया, और सामने का दृश्य देखने लगा—

गिरि के उच्च शिखर पर, अलसाये मेघों का सोना।
जग की मूक व्यथा पर गिरि-निर्झर का झरझर रोना॥

निर्जन वन की उन कलियों की मन्द मधुर मुसकान।

बटोही—

लगभग आध घंटा बाद झाजी आये। उनकी राय हुई आगे बढ़ने की; मैंने कुछ न कहा। वे आगे चले गये। घोड़े पर सवार थे। बलदेव उनके पीछे-पीछे था।

उनके जाने के आध घंटा बाद ही तिवारीजी भी आ गये। वे भी घोड़े पर ही थे और उनकी भी राय यही हुई कि आगे चला जाय। मैं क्या कहता। उन्हीं के कारण भटौली ठहरा था; किन्तु उस समय यह पता न था कि वे घोड़े पर सवार हो गये हैं। अब तो सारी बातें ही बदल गईं। पहले जो खेतीचट्टी दूर जान पड़ती थी, अब वही घोड़े के कारण नजदीक हो गई! मैंने भी सोचा कि जितनी राह कट जाय, अच्छा ही है। निश्चय किया कि दो मील और चलूँगा—उज्ज्वलपुर-चट्टी तक। उनकी भी वही राय थी। बस दोनों साथ ही चल पड़े।

"राजा चढ़े डांडी घोड़ा पालकी सजाय के।
जोगी चले पाँव–पियादे चिमटा बजाय के॥"

नौ मील एक फर्लाङ्ग पर उज्ज्वलपुर मिला। छोटी-सी चट्टी है, किन्तु झाजी ने सबके लिये आराम की जगह ले ली थी। उधर बलदेव चाय बना रहा था। उनके वहाँ जल्दी पहुँच जाने से वास्तव में बहुत आराम हुआ। मैं यदि पहले वहाँ पहुँच ही जाता तो क्या करता!

धीरे-धीरे सभी पहुँच गये; किन्तु गूँगा तबतक न पहुँचा था। उसे ही झाजी-तिवारीजी की रसोई बनानी पड़ती थी।

किन्तु वह मक्कार बराबर समय टालकर ही रंग बाँधे हुए पहुँचता था। झाजी ने एक दिन देखा, दो दिन देखा! इस बार वे झल्ला उठे। बार-बार उन्हें खुद रसोई बनानी पड़ती थी। उन्होंने निश्चय किया कि इस बार उसे दंड अवश्य दिया जाय।

थोड़ी देर बाद वह भी मुँह बनाये हुए आ पहुँचा। रंग पहले से ही बाँध रक्खा था। पैर दिखलाता था कि काँटे गड़ गये हैं। हाथ दिखलाता था कि बोझ से थक गये हैं। सर खुजाता था। मुँह बनाता था। किन्तु झाजी इस बार तुले हुए थे।

अन्त में सलाह हुई कि उसकी मूँछ-दाढ़ी, जो पहले ही काफी सफेद थी, आधी दूर तक काली कर दी जाय। तिवारीजी ने खिजाब लगा दिया और उसने भी बड़े शौक से लगवाया। सिर पर चूने का और रोली का टीका लगाकर टिकुली साट दी गई। बिल्कुल पँचरंगा वन-बिलाव हो गया! देखकर हँसी रोके नहीं रुकती थी; किन्तु वह बिल्कुल मस्त था। उसे तो चाहे जो कुछ भी कह लीजिये—जो कुछ भी बना दीजिये; बस काम करने को न कहिये, वह इसी में खुश है।

इस तमाशे के बाद मैंने ऊपर आकर नल पर स्नान किया। फिर भोजन किया। कुछ आराम किया। उसके बाद दिनचर्या लिखने लगा। तबतक घोड़ेवाला सामान लेने आ गया। अब तो शंकरसिंह था नहीं कि रोक लेता। लिखना बन्द करना पड़ा।

फिर चलने की सलाह हुई। हमारे बूढ़े काकाजी को दस्त आ रहे थे—आँव पड़ गया था। फिर भी घोड़ा ठीक करने की सलाह देने पर वे झल्ला उठे। बोले—"आप क्यों नहीं कर

लेते—आप ?" मैंने कहा—"मेरी भी आपकी-सी अवस्था थोड़े हो गई है ?" फिर भी उन्होंने उस समय घोड़ा नहीं किया।

कुछ धूप रहते ही हमने उज्ज्वलपुर से डेरा उठा दिया। सामने ही धूप थी। आसमान में बादल भी नहीं थे; लेकिन ठंढी हवा के कारण विशेष कष्ट न हुआ। रास्ता आदिबद्री तक अच्छा ही मिला। चढ़ाई कम थी। ज्यादा राह सीधी ही मिली। चट्टियाँ बहुत पास-पास थीं; किन्तु बहुत छोटी-छोटी। हरएक दूसरे मील पर कोई-न-कोई चट्टी अवश्य ही मिलती थी। दस मील चार फर्लाङ्ग पर तालचट्टी मिली; वहाँ से कुछ इधर ही एक रास्ता मिला, जहाँ से 'पौड़ी' चालीस मील है। उधर ही कोई चीतल-घाट भी है; किन्तु उसकी दूरी वहाँ से कितनी थी—यह मुझे याद नहीं।

बारहवें मील के कुछ इधर ही आदिबद्री मिला। मन्दिर में देवताओं के दर्शन किये। बाहर की मूर्त्तियाँ कुछ पुराने ढंग की मालूम हुई। मन्दिर तो बिल्कुल जर्जर अवस्था में है। कुछ तो, ऐसा मालूम होता है, कुछ ही दिनों के मेहमान हैं। कोई दानी पुण्यात्मा इनके जीर्णोद्धार की ओर ध्यान नहीं देता !

एक जमाना था जब टेहरी-नरेश की राजधानी 'चाँदपुर' में थी। उस समय आदिबद्री ही में शीतकाल की पूजा हुआ करती थी; लेकिन वह आज ऊजड़-गाँव-सा पड़ा हुआ है। कोई उसकी बात पूछनेवाला भी नहीं। इसीको समय का फेर कहते हैं। "समय के फेर ते सुमेर होत सेर सम !"

आदिबद्री से चलने पर ऐसा मालूम हुआ मानों आगे बहुत काफी चढ़ाई मिलेगी। थोड़ी-सी मिली भी; पर उतनी कड़ी

नहीं। बीच में तिवारीजी ने ताजा रामदाना का लावा खाने को दिया, जो काफी अच्छा मालूम हुआ; किन्तु वे घोड़े पर थे और मैं पैदल। मैं उनके साथ-साथ न चल सका।

चढ़ाई उत्तरोत्तर बढ़ती गई; किन्तु ईश्वर की कृपा से उस समय धूप से पीछा छूट गया था। पास ही ऊँचा खड़ा हुआ पहाड़ था, जिसकी चोटियों पर सूरज की किरणें झलक रही थीं। मालूम होता था, मानों बिदा ले रही हों। सूरज और पहाड़ का एक रूपक-सा आँखों के आगे खड़ा हो गया। उसका प्रथम आगमन—जब उसकी किरणें पहाड़ की चोटियों पर चमक उठती हैं—मानों उसका प्रथम चुम्बन है। उसके बाद पहाड़ पर सूरज के प्रकाश का आना परिरम्भण के समान प्रतीत होता है। थोड़ी देर बाद तो वह पहाड़ को बिल्कुल अपने अंक में ले लेता है। चारों ओर किरणें फैल जाती हैं। फिर बिदाई का समय आता है। सन्ध्याकाल आ पहुँचता है। सूरज पहाड़ को गले लगाता है, अँकवार-भेंट देता है, फिर अन्तिम बार चुम्बन लेकर बिदा हो जाता है।

इसी प्रकार कुछ सोचता-विचारता आगे बढ़ने लगा। राह की कठिनाई बिल्कुल ही नहीं मालूम हुई। इसीसे मुझे अकेला चलने में अधिक आनन्द आता है; क्योंकि उस समय अपने-आपसे बातें करने और स्वतंत्र रूप से सोचने का अवसर मिलता है।

कुछ आगे बढ़ने पर अपने डांडी-कुली मिले। खाली डांडी लिए चल रहे थे। डिप्टी-साहब उनके साथ पैदल ही चल रहे थे; क्योंकि उनका कायदा था कि जहाँ-कहीं कोई कठिन रास्ता

मिलता, झट डांडो से उतर जाते थे। भोपालसिंह ने मुझे देखकर कहा—"बाबूजी, जब आपको 'मुनी की रेती' पर देखा और सुना कि आप पैदल चलेंगे, तब जी में हुआ कि कहीं-न-कहीं आपको सवारी करनी ही पड़ेगी; किन्तु आप धन्य हैं, आपके माता-पिता धन्य हैं। आपने अपना प्रण निबाह दिया और कभी ढीले न पड़े। बराबर हमलोगों से आगे ही रहे।"

मैं अपनी प्रशंसा सुनकर डबल रोटी के मानिन्द फूल उठा। कौन है जो अपनी तारीफ सुनकर खुश नहीं होता, खासकर जब वह अपने को तारीफ के योग्य समझता है। हाँ, कोई कहता है, कोई नहीं। कोई सकुचा जाता है, कोई फूल उठता है। लेकिन मैं तो सचमुच वह सर्टिफिकेट पाकर बहुत खुश हुआ। क्या कहना है!

चौदह मील छः फर्लाङ्ग पर खेतीचट्टी मिली। पौने पंद्रह मील का सफर हुआ। लेकिन थकावट कुछ भी नहीं मालूम हुई। रास्ता भी इधर का काफी सुहावना और सुगम मिला। बदरीनारायण से चलने पर जैसा पथ मिला था, उससे तो यह अवश्य ही अधिक सुहावना प्रतीत हुआ।

चट्टी भी अच्छे मौके पर थी। हमारा पड़ाव जहाँ पड़ा, वह स्थान काफी सुन्दर था। सामने छोटी-सी स्रोतस्विनी, उसके बाद क्रमशः उठते हुए पहाड़ और उन पहाड़ों के ऊपर मेघमाला; मुझे एक बार फिर 'गिरि के उच्च शिखर पर अलसाये मेघों का सोना' याद आ गया।

गर्म चादर ओढ़कर बैठा। कुछ ठंढ मालूम हुई। रात को भी गर्म चादर ओढ़कर ही सोया।

卐

गढ़वाल की सीमा पर

तारीख १५–६–३३ को सुबह जिस समय उठा, आसमान में चाँद खिला हुआ था; किन्तु साथ-ही-साथ उधर पूरब में ऊषा के आगमन की तैयारी हो रही थी। 'ऊषा के मञ्जुल प्रकाश में रजनी का अवसान' बड़ा ही सुहावना मालूम हो रहा था।

मैं जल्दी-जल्दी तैयार होकर आगे की ओर चल पड़ा। चढ़ाई शुरू थी। दो फर्लाङ्ग के बाद पंद्रहवाँ मील मिला। चढ़ाई बिल्कुल हल्की-हल्की-सी थी, कोई परेशानी न मालूम हुई। कुछ और आगे बढ़ने पर चमेली के फूल दिखलाई पड़े। थोड़ी दूर बाद तो रास्ते के दोनों ओर चमेली का जंगल ही मिला। सुन्दर-सुन्दर उजले-उजले फूल देखकर मन मुग्ध हो गया। उनकी हल्की-हल्की खुशबू से जो खुश हो गया। प्रभात की उस पुनीत वेला में उस निर्जन वन में उन सुकुमार जंगली फूलों को देखकर मैंने एक अजीब आत्मीयता का अनुभव किया। उनसे बातें करने की इच्छा हुई, और आप-ही-आप गुनगुनाना शुरू कर दिया—

अरी चमेली, इस निर्जन वन में तू कैसी फूली!
राजा के प्रमोद-उपवन की सुषमा सारी भूली॥

री सुकुमारी, लाड़-प्यार वह यहाँ कहाँ पावेगी।
कौन यहाँ है इस वन में जिसका जी ललचावेगी॥
अथवा इस निर्जन में ही तू पाती है आनन्द।
शीश हिलाकर जो सूने में हँसती है स्वच्छन्द॥
लोभ न कर प्रमोद-उपवन का क्रूर वहाँ है माली।
कैंची की कतरन से पीड़ित होगी तेरी डाली॥
यहीं मौज से रह सौरभ फैला तू री अलबेली।
मुग्धा वनदेवी तुझको चूमेगी अरी नवेली॥
हँसती-हँसती आकर तुमको चुन लेगी गिरिबाला।
बड़े प्रेम से निज प्रियतम को पहनावेगी माला॥
सखियाँ लेकर तुझे करेंगी दुलहिन का शृंगार।
श्रान्त पथिक को देगी तू नित सौरभ का उपहार॥
निर्जन वन में फूल यहीं तू कर जो कुछ मन माने।
अरे विपिन की कली, जगत् की चालें तू क्या जाने॥

मैं आगे बढ़ता गया। सोलहवें मील पर मलसी-ब्रिज मिला। उसके बाद कठिन चढ़ाई थी। कन्धे के पीछे छाता-छड़ी रख, ऊपर हाथ किये, कुछ झुककर, चढ़ाई पर चला। अपने और सभी साथी पीछे ही थे। चढ़ाई वास्तव में बहुत कठिन थी; किन्तु चार ही फर्लाङ्ग तक। उसके बाद जंगल-चट्टी मिली। वहाँ कुछ लोग उधर से आते हुए दिखलाई पड़े, जिनमें कुछ तो परिचित-से जान पड़े; किन्तु ठीक से न पहचान सकने के कारण मैंने उनसे कुछ पूछताछ न की। बाद को उनके नौकरों से

मालूम हुआ कि वे काशी के हैं और इधर से ही बदरीनाथ जा रहे हैं। वास्तव में पूरब के यात्रियों के लिये बदरीनाथ जाने का सबसे छोटा रास्ता यही है।

अठारहवें मील तक बहुत कम उतार के बाद चढ़ाई-ही-चढ़ाई मिली। सघन जंगल था—परम रमणीक। उसी में मैंने एक भयंकर आवाज सुनी। अकेला था, इससे डर भी मालूम हुआ; किन्तु एक पहाड़ी से पूछने पर पता चला कि वह ऐसा जन्तु है, जो आदमी का शिकार नहीं करता, बल्कि आदमी ही उसका शिकार करता है।

अठारहवें मील के कुछ ही इधर एक प्याऊ मिला, जहाँ से नारायण-बगड़ दस मील था। वहीं से उतार शुरू हो गया। अठारह मील चार फर्लाङ्ग पर दीवाली-खाल मिली। सुन्दर जगह थी; पर छोटी। मैं बढ़ता चला गया। इधर का रास्ता बहुत ही हरा-भरा और रमणीक मिला। कहीं-कहीं अच्छे-अच्छे छोटे-छोटे बँगले भी दिखलाई पड़े।

कालीमाटी पर ठहरने योग्य कोई भी स्थान दृष्टिगोचर नहीं हुआ। एक बूढ़ा वहीं बैठा काफल बेंच रहा था; किन्तु उससे गन्ध आ रही थी, मैंने नहीं लिया। बीसवें मील तक कड़ी उतराई रही। दो फर्लाङ्ग और आगे बढ़ने पर रसियागाड़ मिला। वहीं उतराई खतम हो गई। जंगल भी समाप्त हो गया।

अब आगे की राह कुछ खुली-सी मिली, किन्तु उतार का क्रम फिर जारी हो गया। बिल्कुल नीचे उतरकर एक पुल पार करने के बाद इक्कीस मील छः फर्लाङ्ग पर ग्वाड़गधेरा मिला। वहाँ पहुँचकर मैंने एक बार पीछे की ओर फिरकर देखा, तो

ऊपर कुछ दूर पर अपने ही दल के घुड़सवार आते हुए दिखलाई पड़े; किन्तु आज दो के बदले तीन सवार थे। अनुमान किया कि वकील साहब ने भी घोड़ा कर लिया है। अच्छा ही हुआ। बूढ़े आदमी—उसपर पतले-पतले दस्त हुए। व्यर्थ प्रतिष्ठा के पीछे प्राण गँवा रहे थे। मैं उनके आगे था; अतः आगे ही बढ़ता गया।

इधर के दृश्य सुन्दर मालूम हुए। जगह-जगह खुले हुए हरे-भरे मैदान थे। जान पड़ा, मानों किसी नदी की तराई में हूँ। धोबी-चट्टी से कुछ आगे बढ़ने पर एक स्मृति-प्रस्तर मिला, जिसपर अँगरेजी में स्मृति-लेख लिखा हुआ था। आशय था—"इस गाँव से ग्यारह आदमी सन् १९१४–१९ के महासमर में गये, जिनमें एक ने अपने प्राण गँवाये।" उनके नाम नहीं दिये हुए थे। ऐ अज्ञात सिपाही! गाँव के लिये तूने प्राणों का बलिदान किया—किन्तु, किन्तु, किन्तु! राह-चलता बटोही एक बार तेरी याद कर लेता है।

आखिरी उतार के बाद पुल पार कर तेईसवें मील के बाद धुनार-घाट मिला। काफी अच्छी सुन्दर बस्ती है। रामगंगा पास ही बहती है। मैं एक बार सभी चट्टियों को देख आया। तबतक हमारे दल के ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी आ गये। सबकी राय से एक आराम की जगह ठीक हुई और हमलोग वहीं ठहर गये।

हलवाई के यहाँ से मिठाई इत्यादि मँगवाई गई; किन्तु बहुत ही खराब चीजें थीं। किसी-किसी तरह खाने की कोशिश की; किन्तु तिवारीजी बिल्कुल महेश-रूप हो रहे थे। दूकानदार को ऐसी घुड़की दी कि उसकी रूह फना हो गई। तुरत ही
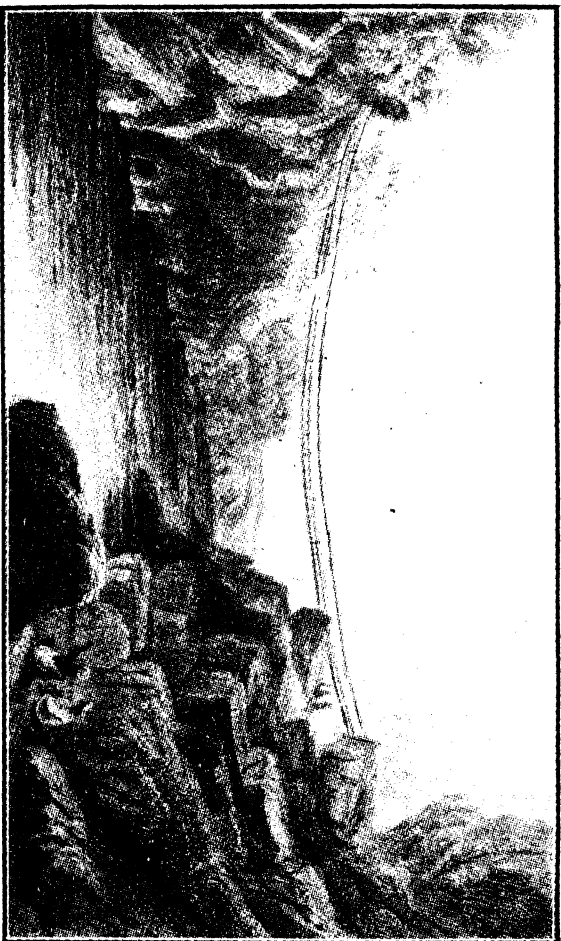
टिहरी-गढ़वाल में गंगाजी पर रस्सी का पुल

उसने अच्छी चीजें बनाकर दीं और पहलेवाली चीजें फेंक दी गई। सचमुच कभी-कभी क्रोध की भी आवश्यकता होती है।

मालकिन साहबा के ठहरने का यहीं प्रबन्ध हुआ। झाजी ने सब कुछ 'ऑल-राइट' करा दिया। थोड़ी देर बाद सभी आ गये; किन्तु बलदेव का पता न था। परेशान थे पंडित जनकलाल—बलदेव क्यों नहीं आया; कोई दुर्घटना तो नहीं हुई। उनके होश उड़ गये। किन्तु तिवारीजी बराबर कहते रहे कि वह यहाँ तक आया है। घोड़ेवाले ने भी उनकी ताईद की। फिर सवाल हुआ कि आखिर बलदेव हुआ क्या! अन्त में यही सोचा गया कि वह अवश्य ही अपनी धुन में आगे की चट्टी पर चला गया।

झाजी, तिवारीजी आदि की रसोई डिप्टी-साहब के 'महाराज' ने ही बनाई। बूढ़े वकील साहब घोड़े पर एक बड़ा-सा कोंहड़ा लादकर लाये थे; बहुत ही सस्ता मिला था, सिर्फ डेढ़ आने में! किन्तु उसके लिये थोड़ा-सा रक्तपात भी हो गया, उसे काटते समय नानाजी की उँगली कट गई। मैंने अमृतधारा लगा दी। तुरत फायदा हुआ।

बस्ती के बीचोबीच नहर बह रही थी और दूसरी ओर बिल्कुल पास ही रामगंगा थी। मैंने वहीं स्नान किया। खूब आनन्द आया। बड़ी ही छोटी थी नदी की धारा। वही आगे बढ़कर कितनी बड़ी हो गई है, जिसके तट पर मुरादाबाद-सा बड़ा शहर बस गया है!

दोपहर में थोड़ा-सा आराम करने के बाद लगभग तीन बजे सभी चल पड़े। आसमान में बादल छाये हुए थे। राह में तकलीफ न हुई। झाजी को बलदेव की धुन थी। घोड़े पर

सवार हो वे आगे बढ़ते गये। डांडियाँ भी आगे बढ़ गईं। मैं उनके पीछे-पीछे बीच की चट्टियाँ पूछता आगे चला। किन्तु कोई चट्टी अच्छी न मिली। दाड़िम-डाली चौबीसवें मील के बाद, सैंजी पचीस मील एक फर्लाङ्ग पर, भेलगढ़ उससे पाँच ही फर्लाङ्ग आगे। और भी कई चट्टियाँ थीं, जिनका नाम जानने की मैंने आवश्यकता न समझी।

रास्ता अच्छा था। एक ओर रामगंगा बह रही थी और बीच-बीच में फल भी मिलते थे। मा ने एक जगह कुछ खुमानी खरीदकर खाने को दी। उसके सहारे रास्ता और भी आनन्द-दायक हो गया।

मेलचौरी के पास पहुँचने पर देखा, झाजी उलटे पाँव चले आ रहे हैं—परेशान-हाल, चेहरे का रंग उड़ा हुआ। "क्यों साहब, बलदेव मिला ?" "नहीं, मैं कहता था कि मुझे इन्क्वैरी कर लेने दो, पुल के पास से ही 'चेन' उठाता, लेकिन तिवारी अपनी अक्ल के आगे कुछ समझें तब तो ?"।

वहीं एक छोटी-सी नदी थी, जिसका पानी कुछ उतना अच्छा नहीं देखने में आया। उस पर एक पुल बना हुआ था, जिसे पार कर हमलोग मेलचौरी पहुँचे। देखा, बड़ी भीड़ थी। रहने की भी तकलीफ थी ; किन्तु किसी-किसी तरह अपने लोगों को जगह मिल गई। हल्की-हल्की-सी वर्षा हो रही थी, इससे कुछ सर्दी भी मालूम हुई। उधर धुएँ के कारण और भी कष्ट था।

ऊपर दोमञ्जिले पर बैठकर फिर बलदेव के विषय में विचार होने लगा। छपरे की एक स्त्री ने कहा कि धुनार-घाट में ही उसने बलदेव को हमारे पड़ाव के नीचे से जाते हुए देखा था।

सभी को खयाल हुआ कि गँजेड़ी गाँजे की धुन में आगे चला गया। राय हुई कि घोड़ावाला आगे भेजा जाय। घोड़ावाला तैयार भी हुआ, तबतक किसी ने कहा—"वह आ रहा है बलदेव !" गाँजे का नशा टूट गया। गँजेड़ी लौट आया। धन्य है गाँजे की महिमा ! बलदेव से पूछने पर मालूम हुआ कि सचमुच वह गाँजे की धुन में ही आगे चला गया था और बहुत दूर जाने के बाद लौटा आ रहा है !

रात में कुलियों का हिसाब हुआ। डांडीकुली, बोझाकुली इत्यादि सभो के रुपये दे दिये गये। कुलियों को इनाम भी दिया गया। वे जय-जय करते हुए वहाँ से चल पड़े। इतने दिनों तक इनका अभिन्न साथ रहा था, जिसके कारण इनसे अपनैती भी हो गई थी। गोपाल, ध्यान, हीरासिंह इत्यादि से अलग होने पर मोह-सा मालूम हुआ। बदरीनाथ का यह रहा-सहा सम्बन्ध भी टूट गया।

मेलचौरी में गढ़वाल की सीमा समाप्त होती है। यहाँ से अलमोड़ावाले कुली यात्रियों का चार्ज अपने ऊपर ले लेते हैं। दूसरे डांडावाले ठीक हो गये—दस-दस रुपये पर; किन्तु बोझा-वाले कुली तबतक ठीक न हुए थे। रात अधिक हो चुकी थी। बात कल पर छोड़कर हमलोग सो गये।

दूसरे दिन सवेरे उठकर प्रातःकृत्य के बाद सामान का बन्दोबस्त करना पड़ा। तीन रुपये मन पर मामला तय हुआ। लिखाई-पढ़ाई का काम भाजी पर छोड़ हमलोग आगे चल पड़े।

बड़ी ही कठिन चढ़ाई थी—बिल्कुल खड़ी। देखकर दिल दहल गया। गढ़वाल ने खतम होते-होते भी एक बार अपना

रूप दिखला दिया। मेलचौरी से पूरे एक मील पर पनुआखाल का नल मिला। वहीं तीसवें मील पर सीमावाला पत्थर भी मिला। एक ओर गढ़वाल, दूसरी ओर अल्मोड़ा। आखिर गढ़वाल का साथ भी छूट रहा है। इतने दिनों तक इस तीर्थ-प्रदेश में घूमा, इतना पुण्य लूटा, अब साथ छोड़ना पड़ रहा है। मैंने एक बार पनुआखाल के पास खड़ा होकर देखा—पीछे की ओर—गढ़वाल के पुण्य प्रदेश को। फिर तेजी के साथ उतराई की राह से नीचे की ओर चल पड़ा।

卐

आधुनिक सभ्यता की रङ्गभूमि में

[१]

यों तो कमाऊँ के अन्तर्गत गढ़वाल, अल्मोड़ा, नैनीताल इत्यादि सभी आ जाते हैं; फिर भी साधारणतः 'कमाऊँ' कहने से अल्मोड़ा-नैनीताल का ही बोध होता है। यहाँ तक कि सरकारी फौज में भी गढ़वाली-रेजिमेंट और कमाऊँ-रेजिमेंट दोनों भिन्न-भिन्न हैं, जिससे दोनों का भेद स्पष्ट प्रतीत होता है।

गढ़वाल की सीमा के बाहर होते ही यह भेद और भी साफ-साफ दिखलाई पड़ता है। बिल्कुल दुनिया ही बदल जाती है, और ऐसा जान पड़ता है, मानों किसी दूसरे ही लोक में आ गये हैं। चारों ओर की छोटी-छोटी पहाड़ियों के बीच कुछ नीची भूमि, बीच में बहती हुई नदी की धारा—आसपास हरे-भरे खेत—सुखी लोग—सुन्दर मकान देखकर चित्त प्रसन्न हो गया। हरे-भरे पहाड़ों पर सुन्दर सफेद मकान काफी अच्छे मालूम हो रहे थे। लोगों में भी माँगने की आदत नहीं के ही बराबर देखने में आई। शिक्षा का प्रचार भी इधर कुछ अधिक ही मालूम हुआ।

पनुआखाल से नीचे एक मील उतर आने पर सिमली-चट्टी मिली। जनाना डांडीवाले वहीं बैठे डिप्टी-साहब की राह देख

रहे थे। मैं वहाँ ठहरा नहीं, आगे बढ़ चला। एक मील और वैसी ही उतराई मिली। अपने दल के घुड़सवार मिल गये, केले खरीदकर खा रहे थे। मैंने भी खाये, काफी मीठे थे।

सिमली से लगभग दो मील पर रेवाड़ी-चट्टी मिली। उसके बाद बिजराणी। दोनों ही चट्टियाँ छोटी हैं—ठहरने लायक नहीं। उनके बाद जो रामपुर-चट्टी मिली, वह काफो अच्छी है, जहाँ लोग मजे में ठहर सकते हैं। इधर का दृश्य काफी सुन्दर दिखलाई दिया। गढ़वाल से इस ओर आने पर उस समय ऐसा अनुभव हुआ, मानों अपेक्षाकृत कुछ उन्मुक्त वायुमंडल में आ गया होऊँ।

रामपुर के बाद एक बड़े मजे की जगह दिखलाई दी—विरखमेश्वर महादेव पञ्चकेदार। काफी सघन छाया है। पानी का भी आराम है। वहाँ जड़ी-बूटियों की एक अच्छी-सी दूकान भी दिखलाई पड़ी।

इधर मैंने महादेव के मन्दिर कई देखे, किन्तु अच्छी हालत किसी की भी नहीं थी। एक जीर्ण मन्दिर में तो बाहर से देखने पर ऐसा मालूम हुआ, मानों मन्दिर में मूर्त्ति है ही नहीं। मैं हैरान हो गया। सोचने लगा, क्या बात है—

मन्दिर है, भगवान नहीं हैं।
है शरीर, पर, प्राण नहीं हैं।
दिल है, पर अरमान नहीं हैं।
घर है, पर सामान नहीं हैं॥
यह है कैसी लीला?

मेरी समझ में न आया। किन्तु इतना न हो सका कि उसके पास जाकर सन्देह निवृत्त कर लूँ। बस अंटसंट सोचता हुआ आगे बढ़ता चला। आसपास आम के वृक्ष काफी दिखलाई पड़े। थोड़ी दूर और चलने पर दूर से ही चौखुटिया (गणई-चट्टी) दृष्टिगोचर हुई। अच्छे सुन्दर मकान दूर से ही चमक रहे थे। पास पहुँचने पर सबसे पहला जो मकान मिला, वह बढ़िया बँगलानुमा था और उसी में पोस्ट-आफिस था।

झाजी और तिवारीजी ने उससे कुछ आगे बढ़कर एक अच्छा-सा मकान पहले से ही ले रक्खा था, जो बिल्कुल सड़क के किनारे, साफ-सुथरा और सुन्दर था। नीचे कुँआ था—बढ़िया, ठंढे जल से भरा हुआ, बिल्कुल अपने देश-जैसा, जिसके चारों ओर सुन्दर चबूतरा बना हुआ था। आसपास काफी चौड़े हरे-भरे खेत थे, जिनके बीच से रामगंगा बह रही थी। जिस स्थान पर हमलोग ठहरे थे, मेलचौरी से आठ मील पर था।

डिप्टी-साहब बहुत देर बाद पहुँचे। बिल्कुल झल्लाये हुए थे। इस बार कुली अच्छे नहीं मिले थे। ऐसा जान पड़ता था, मानों वे बिल्कुल अनाड़ी और कमजोर हों। उन्होंने दो बार डांडी गिरा भी दी थी, किन्तु ईश्वर की कृपा से कोई दुर्घटना न हुई; लेकिन डर के मारे दो कुली रफूचक्कर हो गये। डिप्टी-साहब को बहुत कष्ट हुआ, लेकिन करते क्या। अपनी चलती तो उन कुलियों के प्राण ले लेते। कहते थे, अफसोस, अपनी जगह न हुई, नहीं मारे बेंतों के चमड़ी उधेड़ डालते।

हमारे पड़ाव के सामने ही एक अच्छी-सी दूकान थी, जहाँ छड़ियाँ बिक रही थीं। और-और चीजें भी थीं। दूकान-

दार साहब मुरादाबाद के थे। उन्हीं से मालूम हुआ कि अब यहाँ से समतल भूमि अधिक दूर नहीं है, और यहीं से पर्वत-निवासियों के साथ समतल भूमि पर रहनेवालों का संसर्ग शुरू हो जाता है।

आज मुद्दत बाद मैंने पहले-पहल कुएँ पर स्नान किया। बहुत ही आनन्द आया। पहाड़ में कुएँ का होना एक असाधारण घटना-सा है, और तिसपर यह कुआँ बहुत ही सुन्दर था। पानी भी बढ़िया था। खाने-पीने के बाद हमलोगों ने कुछ देर आराम किया। फिर लगभग चार बजे वहाँ से चल पड़े।

रामगंगा को पुल द्वारा पार करना पड़ा। बस यही अन्तिम झूले का पुल था। इसके बाद उस प्रकार का पुल और न मिला। पुल पार करने पर सामने ही फिर एक स्मृति-प्रस्तर नजर आया, जिसपर महासमर में जानेवालों का जिक्र था। देखता हूँ, इधर से काफी आदमी लड़ाई में गये थे। राजभक्ति का पुरस्कार भी उन्हें अच्छा ही मिला।

वहीं पास ही मीलवाला पत्थर भी मिला, जिसपर लिखा हुआ था—रानीखेत २३, रामनगर ५६। बस, यहीं रास्ता अलग हुआ।

पुल के पास ही रामगंगा के साथ एक और नदी का संगम हुआ है। रामनगर जानेवाले रामगंगा के किनारे-किनारे चले और हमने उस दूसरी नदी का किनारा पकड़ा। दरियाफ्त करने पर मालूम हुआ कि वह नदी दूनागिरि (द्रोणाचल) से आती है। नाम है शायद 'कोटला'; किन्तु मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकता। शायद भूलता होऊँ।

उसी नदी के किनारे-किनारे रानीखेत की राह है। पहले इस पथ से तीर्थयात्रियों के जाने की इजाजत नहीं थी, इसीसे किसी भी यात्रा-पुस्तक में इसका विवरण नहीं है। ऐसी अच्छी राह हमें अभी तक कहीं भी नहीं मिली थी। बिल्कुल बराबर, सघन छायायुक्त और सुन्दर थी। धूप से बिल्कुल तकलीफ न हुई। पर्वत की छाया, वृक्षों की छाया। बीच-बीच में कोयल की कूक बराबर अपने यहाँ के आम्र-कानन की याद दिलाती रही।

उसी पथ पर आगे एक पहाड़ी स्त्री जा रही थी, जिसकी गोद में दो साल की एक बच्ची थी; किन्तु वह भी गोद में नहीं रहना चाहती थी, पैदल चलने में ही उसे आनन्द आता था, गोद में लेने से रोने लगती थी। पहाड़वालों और मैदानवालों की भिन्न प्रकृति का यह भी एक अच्छा-सा उदाहरण था।

बीच में ग्वाली आदि कितनी ही छोटी चट्टियाँ मिलीं। अच्छी सुन्दर-सी चट्टी गणई से पाँच मील चलने पर मिली। महाकालेश्वर पुल पार कर दूसरी ओर आया। गाँव अच्छा सुन्दर-सा था। उसका मन्दिर भी छोटे टापू के समान नदी के बीचोबीच बहुत सुहावना मालूम होता था।

वहाँ से दो मील पर चित्रेश्वर था। वहाँ हमें रात को ठहरना था। सन्ध्या हो चली थी; फिर भी चलने में आनन्द आ रहा था; क्योंकि रास्ता अच्छा था और दृश्य सुन्दर।

बीच में पके आम लिए हुए एक आमवाला मिला। पहले-पहल पका आम देखा, तो खरीद लिया; पर अच्छा स्वाद न मिला। जब चित्रेश्वर पहुँचा तब देखा कि बस्ती छोटी थी। फिर भी हमें आराम का मकान मिल गया। दोमञ्जिले पर

ठहरे। उसके पीछे छोटी सुन्दर-सी नदी बह रही थी और सामने था—सड़क के दूसरी ओर—एक मन्दिर और छोटी-सी धर्मशाला। डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड का स्कूल हमारे बिल्कुल सामने था, उसकी इमारत काफी पुख्ता और भव्य थी।

यहाँवालों ने एक संस्कृत-पाठशाला खोल रक्खी है, जिसके लिये वे हमसे चन्दा माँग रहे थे। मुझसे बहुत बातें हुईं। तबतक बड़े जोर-शोर के साथ तूफान आया। हवा की पीठ पर सवार होकर मेघों ने सारा बरामदा भिगो दिया। मूसलधार पानी बरसने लगा; किन्तु कुशल थी कि सभी तबतक पड़ाव पर पहुँच गये थे, नहीं तो बड़ी दुर्दशा होती। कुछ देर बाद वर्षा कम हो गई। खयाल आया—

नीले नभ में घन-घमंड का उमड़ घुमड़ घिर आना।
रिमझिम रिमझिम कभी-कभी फिर धुआँधार बरसाना॥
शीतल शान्त समीर कभी अरु कभी-कभी तूफान॥ बटोही०

आसमान साफ हो चला था। वर्षा रुक गई; किन्तु ठंढक बढ़ गई थी। सर्दी काफी होने के कारण कमरे के अन्दर ही सोया। नींद मजे की आई।

[२]

सत्रह जून को सुबह कुछ देर से उठा और घोड़ेवालों के साथ ही चला। यहाँ ऊपर पांडे लोगों की बस्ती है। थोड़ी दूर चलने पर श्यामाचरण नामक एक नवयुवक से भेंट हुई। उसने उस साल अल्मोड़े से हाई-स्कूल की परीक्षा दी थी। उसीसे बातें करता आगे बढ़ा। उसीसे मैंने उस कागज के विषय में

भी पूछा, जिसे वहाँ प्रायः प्रत्येक घर के प्रधान द्वार पर लगा हुआ देखा था। उसने बतलाया कि विजयादशमी के अवसर पर ब्राह्मण-पुरोहित कुंडलीचक्र-जैसे कागज पर कुछ बनाकर प्रत्येक गृहस्थ को देते हैं, जिसे वह अपने दरवाजे पर लगा लेता है; उसका विश्वास है कि उससे विघ्न का निवारण होता है और वज्रपात आदि का भय नहीं रहता।

द्वाराहाट के कुछ इधर ही हमारा उसका साथ छूट गया। एक पुल पार करने पर हमें द्वाराहाट के लिये लगभग एक मील की चढ़ाई मिली, जो कड़ी नहीं थी। सुन्दर चीड़ के वृक्ष खड़े थे और रास्ता भी बिल्कुल सीधा था।

चित्रेश्वर से लगभग चार मील पर द्वाराहाट मिला। अच्छा सुन्दर छोटा पहाड़ी शहर, सुन्दर बाजार, सुन्दर मकान और सुन्दर दूकानें—सभ्यता के प्रायः सभी सामान दृष्टिगोचर हुए।

साफ-सुथरे कपड़े पहने हुए कुछ लड़के पढ़ने जा रहे थे। मालूम हुआ, यहाँ एक मिशन-स्कूल है, जहाँ दर्जा आठ तक अँगरेजी पढ़ाई जाती है। आँखों को वे सभी दृश्य बिल्कुल नये मालूम हुए। जान पड़ा कि आधुनिक सभ्यता की रंगभूमि में आ गया हूँ।

बीच बाजार से दो रास्ते फूटे—सोमेश्वर १२ और रानीखेत १३। रानीखेत की राह में कुछ आगे बढ़ने पर कई संरक्षित भवन दिखाई पड़े। पुराने मन्दिर थे, बड़े ही साफ-सुथरे और सुन्दर; किन्तु उनके विषय में कुछ बतलानेवाला कोई भी वहाँ न था। इधर मेरे पास उतना समय भी न था कि ठहरकर कुछ पूछताछ कर लेता। अतः मन मारकर आगे बढ़ चला, किन्तु

अब भी उनका पूरा विवरण जानने की इच्छा हृदय से गई नहीं है।

आगे हमलोग जिस ओर जा रहे थे, उसी ओर कुछ लड़के भी पाठशाला में पढ़ने जा रहे थे। तिवारीजी के घोड़े के साथ उनकी अच्छी दौड़ हुई। बस्ती से बाहर आने पर हमें पाठशाला मिली। उसके पास से फिर दो रास्ते अलग हुए—खैरना २१, रानीखेत १२। वहीं से सामने की ओर दूर ऊँचे पहाड़ पर रानीखेत की बस्ती दिखलाई पड़ी। सुन्दर-सुन्दर मकान साफ-साफ चमक रहे थे, जैसे मसूरी दिखलाई पड़ती है। उस स्थान से फिर उतराई शुरू हो गई।

रास्ते में हमें एक बंगाली इञ्जीनियर बाबू मिले, जिनसे बातें करने में बहुत आनन्द आया। वे भी यात्रा से ही लौटे आ रहे थे और स्युंगधार, कुम्हारचट्टी आदि में हमलोगों को साथ ही ठहरने का मौका भी पड़ा था। उनका अनुमान था कि श्रीबदरीनारायण की मूर्त्ति वास्तव में भगवान् बुद्ध की ही मूर्त्ति है, जिसे तिब्बत की ओर जाते हुए बौद्ध प्रचारकों ने कहीं डाल दी रही होगी और श्रीशंकराचार्य ने उसका उद्धार किया! बात क्या है, भगवान् ही जानें; किन्तु अनुमान करनेवाले अपनी ओर से बाज नहीं आते ; बड़ी दूर की कौड़ी लाते हैं।

उतार के बाद 'कफड़ा' नाम की अच्छी-सी बस्ती दिखलाई दी, जहाँ पके आम बिक रहे थे। बंगाली बाबू वहीं ठहर गये और हम आगे बढ़ चले। सुनौली नाम की एक सुन्दर बस्ती मिली, जहाँ शर्बत की दूकान थी। हमारे वयोवृद्ध साथी वहीं बैठे हुए थे। मैं भी उनके साथ हो गया। हम सभी ने दही की

लस्सी पी, जो काफी अच्छी मालूम हुई, लेकिन दूकानदार लुटेरा था। बहुत छोटे-से गिलास के लिये उसने दो आने पैसे लिए। थोड़ी दूर बढ़कर मैंने एक झरने से पानी पिया!

थोड़ा और आगे बढ़ने पर एक अच्छी-सी बस्ती मिली, जहाँ नीचे की ओर कुछ बड़े ही सुन्दर मन्दिर बने हुए थे, जिनपर पीले-पीले कलश और भी सुन्दर दिखलाई दे रहे थे। नाम उस बस्ती का था—शिवजटाधार।

चित्रेश्वर से लगभग ग्यारह मील चलने पर हमें गगास मिला। गाँव नदी के दोनों ओर है, किन्तु अधिक बस्ती इसी पार है। यहाँ सघन छाया भी है। दूकानें भी सुन्दर हैं और आधुनिक सभ्यता का सोमरस—लेमोनेड और सोडावाटर—भी बिक रहा था। पके आम, खमानी इत्यादि फल भी थे।

इधर जगह भर जाने के कारण हमलोग दूसरी ओर नदी के उस पार एक दूकान पर ठहरे। दूकानदार ने अच्छी खातिर-दारी की। वहीं बैठकर मैंने चाय पी। तबतक और लोग भी आ गये।

पास ही ठंढे पानी का झरना था, जहाँ से पानी ले जाने के लिये उस पार से भी लोग आते थे। उस पड़ाव पर हमें काफी आराम रहा। नीचे नदी में शिलाखंड पर बैठकर हमने बड़ी मौज से स्नान किया। धारा अच्छी तेज थी, जिसमें कभी हम पूरा लेट जाते थे, कभी बैठ जाते थे, कभी सर धारा के नीचे डाल देते थे। वहीं झरने की धार पर पिपरमिंट का जंगल मिला, जिसकी खुशबू से जी खुश हो गया।

खाने-पीने के बाद जाकर कुछ देर तिवारीजी से बातें कर

आया। सभी की राय थी—सीधे रानीखेत चलने की; किन्तु मालकिन साहबा की इच्छा नहीं थी। अपराह्ण में झाजी आये। उनकी भी राय बीच में ही ठहरने की हुई। इतना राय-मशविरा हुआ मानों हिन्दुस्तान के स्वराज्य का मसविदा तैयार हो रहा हो! मेरी तबीयत ऊब गई और मैं आगे चल पड़ा।

वहाँ एक सीधी खड़ी पगडंडी थी। उसीसे ऊपर सड़क पर आया। कुछ देर बाद फिर एक पगडंडी मिली। रास्ता थोड़ा-बहुत उसके सहारे भी कट गया। वहीं 'फलना' नाम की अच्छी-सी चट्टी मिली। उससे कुछ दूर आगे बढ़ने पर हमारे घुड़-सवार साथी भी हमारे पास पहुँच गये। रास्ता बहुत ही सुन्दर था। दोनों ओर ऊँचे-ऊँचे चीड़ के वृक्ष थे, जिनमें फल लटके हुए थे। सड़क अच्छी चौड़ी-सी थी—बिहार की पहाड़ी भूमि की सड़कों के समान। सईसों ने चीड़ के फल के अन्दर से कुछ बीज निकालकर खिलाये।

आगे कोठली मिली, किन्तु वहाँ ठहरने की जगह न थी। उसके एक मील बाद किलकोट का बँगला भी नजर आया; किन्तु वह भी खाली नहीं था, अतः हमें लाचारी आगे बढ़ना ही पड़ा।

रानीखेत के पास चीड़ का जंगल ही मिला। हमारे साथी घोड़े पर सवार बहुत आगे बढ़ गये थे। मैं चुपचाप अपना रास्ता नापता, इधर-उधर की बहार लेता, अकेला चला जा रहा था।

लगभग आध मील रानीखेत बाकी रहा होगा, जब हमें मोटर की भों-भों सुनाई दी। आ गया आधुनिक सभ्यता की

रंगभूमि में। वहीं पास ही खेत में कुछ पंजाबी सिपाही पहाड़ी स्त्रियों के साथ छेड़खानी कर रहे थे, और कुछ ऊपर ही सड़क पर से आवाजें कस रहे थे। सभ्यता का भला इससे बढ़कर प्रमाण और कौन-सा मिल सकता था ?

रानीखेत में घुसते ही सड़क के पास एक ऊँची चहार-दीवारी का मकान दिखलाई पड़ा, जिस पर बहुत-से गिद्ध बैठे हुए थे। अनुमान हुआ कि वही कसाईखाना है। न जाने वहाँ रोज कितनी गौएँ कटती होंगी ! मैं इधर देख ही रहा था कि दीवार के ऊपर से मांस का एक बहुत बड़ा लाल टुकड़ा धम से नीचे गिरा और लुढ़कता-लुढ़कता नीचे की ओर चला, जिसके साथ-ही-साथ गिद्धों का जुलूस भी उसे खींचता-नोचता तेजी से पीछे दौड़ पड़ा।

वह भी एक अजीब दृश्य था—उस यात्री की आँखों के लिये, जो अभी भू-वैकुंठ से ताजा-ताजा चला आ रहा था। उसके दिल पर क्या बीती होगी, इसका अनुमान सहृदय ही कर सकते हैं। इन्हीं अवसरों पर अपनी गुलामी खलती है।

दो ही दिनों में हमारी परिस्थिति में कितना अन्तर हो गया। कहाँ हम अपनी प्राचीन आर्य-सभ्यता की गोद में थे। सुन्दर तपोवन, जहाँ कण-कण में ऋषियों की स्मृति जागरूक है। वह वास्तव में तपोभूमि है, और सचमुच वह दिन बुरा होगा, जिस दिन वर्त्तमान सभ्यता का पूर्ण प्रकाश वहाँ पहुँच जायगा। इन दोनों स्थानों में विशाल अन्तर दिखलाई दिया। वह मुनियों की तपोभूमि है और यह साहबों तथा शौकीन बाबुओं के सैर की जगह। किन्तु हम परिस्थिति के दास हैं ;

शिक्षा से लाचार हैं। इसीसे उस तीर्थ-प्रदेश में भी घूमते-घूमते हमारी तबीयत ऊब गई थी और हम इसी दृश्य को देखने के लिये बेहाल हो उठे थे !

थोड़ा ही आगे बढ़ने पर ऊपरी सड़क मिली। झुंड-की-झुंड मोटरें और लारियाँ खड़ी थीं। सभी दृश्य आँखों को नये-से मालूम हुए। कितने दिनों बाद—आह ! कितने दिनों बाद—आ गये अपने युग में—इसी यन्त्र-युग में। इसीके लिये तो तरस रहा था। आदत कितनी खराब हो गई है !

एक बार बाजार की ओर घूम आया। काफी सुन्दर शहर है। दूकानें भी खूब ऊँची-ऊँची और सजी हुई हैं, बिल्कुल मसूरी और नैनीताल के वजन पर। किन्तु शहर उनकी अपेक्षा छोटा मालूम हुआ। मैं लगभग दो फर्लाङ्ग आगे चलकर फिर लौट आया।

बस-स्टैंड के पास देखा, ऊपर मकान से हमारे काकाजी झाँक रहे हैं। वहीं मील का पत्थर गड़ा हुआ था—काठगोदाम ५२। मैं ऊपर गया। छोटे-छोटे तीन कमरे थे। फी कमरा एक रुपया। एक रात के लिये कुछ बुरे नहीं थे। मुझे अच्छे जँचे, लेकिन थोड़ी देर बाद जब मालकिन साहबा आईं, बहुत असन्तुष्ट हुईं, और वहाँ से लौटकर किसी मन्दिर में चली गईं। भाजी भी वहीं चले गये; यहाँ रह गये सिर्फ हमीं लोग।

डांडी-कुली इत्यादि का हिसाब कर दिया गया। घोड़ेवाले को भी मजदूरी दे दी गई; क्योंकि उसने कर्णप्रयाग से मेलचौरी तक मेरा सामान ढोया था। डांडियाँ चौखुटिया-सेवासमिति को

दे दी गई। नीचे समतल भूमि पर उनका क्या काम था। वहाँ कौन डांडी पर चढ़ता।

नानीजी तथा मा इत्यादि की इच्छा एक बार शहर देख आने की हुई। मैं उन्हें साथ घुमा लाया। कोई चीज खरीदी न गई। रात को पूरी-मिठाई खाई।

घूम-फिर आकर मैंने अपनी लाठी रख दी और हार्दिक श्रद्धा तथा भक्ति के साथ मा के चरण छुए। उन्हींके आशीर्वाद से आज मेरी पैदल यात्रा समाप्त हुई; मेरा संकल्प पूर्ण हुआ। मालूम हुआ, मानों मैंने जग जीत लिया हो। कुल मिलाकर लगभग पौने चार सौ मील पैदल चला; किन्तु नाम के लिये भी कहीं किसी सवारी पर नहीं चढ़ा। मेरी खुशी का ठिकाना न था। बार-बार मैंने ईश्वर को धन्यवाद दिये और मा के चरण छुए।

रात को सोते समय बीती बातों की याद करता रहा। किस लोक में था और कहाँ पहुँच गया। सीधी-सादी आर्य-सभ्यता, आर्य-तीर्थ, आर्य-आदर्श; और आज कहाँ हूँ—आधुनिक सभ्यता की रंगभूमि में, जहाँ बिजली जल रही है, मोटरें चल रही हैं, शराबों की प्याली-पर-प्याली ढल रही है। उस समय तो गढ़वाल से तबीयत ऊब गई थी, पर आज उसके लिये तरस रहा हूँ। मनुष्य की यही प्रकृति है; अपनी अवस्था से वह कभी सन्तुष्ट नहीं रहता।

मेरे पास ही मेरी 'प्राण-प्रिया यष्टिका' (लाठी) पड़ी हुई थी, जिसने वन-पर्वत नदी-नाले सबमें मेरा साथ दिया

था; किन्तु अब मुझे उसकी जरूरत न रही। अब तो उसे लेकर चलने पर लोग हँसेंगे। कितना अद्भुत परिवर्त्तन !

आज पैदल यात्रा समाप्त हो गई। कल मोटर और रेल है।

卐

फिर समतल भूमि पर

अठारह जून १९३३—आज पहाड़ में हमारा अन्तिम दिन था। तड़के साढ़े तीन बजे उठा और जल्दी-जल्दी शौचादि से निवृत्त हुआ। पैदल यात्रा समाप्त हो गई थी। फिर भी पाँव चलना ही चाहते थे। थोड़ी-सी चहल-क़दमी रानीखेत के बाजार में कर ली।

थोड़ी ही देर के बाद सुन्दर स्वर्ण-प्रभात हुआ—ऐसा दिव्य, ऐसा सुन्दर, जैसा मैंने कहीं भी देखा न था। पहाड़ के पीछे से सूरज की किरणें उठकर एक विचित्र रंग से मेघों को रँग रही थीं। वह शोभा देखते ही बनती थी। उसका वर्णन कोई भी कवि नहीं कर सकता और न कोई चतुर चितेरा उसका चित्र ही खींच सकता है। अफसोस, यह दृश्य फिर देखने को न मिलेगा। हृदय से एक आह निकली—'नहीं देखने में आवेगा फिर यह स्वर्ण-बिहान—बटोही !'

कुछ देर बाद लारी आई। सामान लादे गये। हमलोग कुल चौदह आदमी थे। दो और मनुष्यों को चढ़ा लिया। दो रुपये दो आने फी आदमी के हिसाब से कुल चौंतीस रुपये देने पड़े। फिर भी हिसाब में मुझसे एक चवन्नी की गलती हो ही गई। हिसाब का मामला सचमुच बहुत टेढ़ा होता है, और मेरा हिसाब शुरू से ही आदर्श था !

पाँच बजकर चालीस मिनट पर मोटर चली। झाजी की

लारी आगे बढ़ी। पञ्जाबी ड्राइवर था। हमने उसे आगे बढ़ जाने दिया। पहाड़ी रास्ते पर गहरेबाजी कौन करे!

चार मील पर रानीखेत-छावनी मिली। सड़क सुन्दर थी— अलकतरे से पुती हुई, बिल्कुल सहन-सी चौरस। मोटर के चक्करदार रास्ते से सर में चक्कर आने लगा। एक नल पर मुँह-हाथ धोये। सर पर पानी डाला। रूमाल भिगोकर उसमें अमृत-धारा की कुछ बूँदें डाल लीं। उसीसे मुँह और ललाट पोंछता आया। उससे लाभ बहुत हुआ और फिर चक्कर न आया। पेट्रोल का वह बढ़िया जवाब (एंटीडोट) था।

रास्ते में कई प्रसिद्ध स्थान मिले। खैरना मिला, जिसका नाम कर्ण-प्रयाग से ही पढ़ता आ रहा था। दरियाफ्त करने पर लारीवालों से मालूम हुआ कि वहाँ चीड़ की गोंद का डीपो है। उस गोंद से कई दामी चीजें बनती हैं। एक छोटे-से टीन का दाम अठारह रुपये सुना।

खैरना के बाद भुवाली मिली। 'एडवर्ड द सेवंथ सैनि-टोरियम' को मोटर पर से ही लोगों को बतला दिया। अपनी चौदह वर्ष पहले की यात्रा याद आ गई, जब इसी रास्ते अपने मित्र रामरत्नजी के साथ अल्मोड़े से पैदल नैनीताल गया था।

वहाँ कुछ देर मोटर खड़ी हुई, तो पुलिस-कान्स्टेबल ने अपना एक आदमी हमारी लारी में चढ़ाना चाहा—अपनी सिपाहियाना शान में। किन्तु दरवाजे पर ही हमारा गूँगा-बहादुर बैठा था। वह झट ताल ठोंककर खड़ा हो गया और अपनी विशुद्ध भाषा में सिपाही से भिड़ पड़ा—आँ उँ-आँ उँ, गों-गों, ई-ई। सिपाही हैरान था। हमलोगों ने भी गूँगे की पीठ

ठोकी। सिपाही अपना-सा मुँह लिए रह गया। उसे यह पता न था कि हमारा गूँगा भी एक पुलिस-इन्स्पेक्टर का पर्सनल असिस्टेंट है।

भुवाली के पास ही 'हिलक्रेस्ट-सैनिटोरियम' मिला। गेठिया नाम का एक छोटा-सा मिलिटरी-स्टेशन भी देखने में आया। उधर चारों ओर कुहरा-सा छा गया, जिसके कारण सिवा अपने रास्ते के हमें और कुछ भी न दिखाई दिया।

ब्रूअरी (बीरभट्टी) के पास पहुँचने पर मुझे उस घटना की याद आ गई, जब अपनी तारीफ न होने के कारण मेरे मित्र मुझसे नाराज हो गये थे। उन्होंने घोड़े से गिरती हुई एक देवीजी को बड़ी फुर्ती से बचा लिया था। मैंने उनकी तारीफ की; किन्तु जब उन्होंने यह कहा कि ऐसा तो कोई भी कर सकता है, तब मैंने उन्हें चिटखा दिया, जिसके फल-स्वरूप वे 'हलद्वानी' तक मुँह लटकाये आये। अब न वह बीरभट्टी है, न वे दिन। पुरानी बीरभट्टी पहाड़ के नीचे चूर-चूर हो गई और हमारे वे दिन भी न जाने किस अज्ञात कारण से अन्तर्हित हो गये।

उस समय नैनीताल तक मोटर की सड़क नहीं थी; किन्तु इस बार देखा—बढ़िया सड़क बनी हुई है। आज उसपर 'वेलकम' के बन्दनवार भी टँगे हुए थे। मालूम हुआ कि वायसराय के आगमन के उपलक्ष में ये सारी तैयारियाँ हैं। राह-भर वैसे ही बन्दनवार दिखलाई दिये। कुछ देर बाद एक रानीबाग भी मिला, जो हमें अपनी यात्रा के रानीबाग की याद दिला रहा था।

काठगोदाम में हम समतल भूमि पर आ गये। उधर स्टेशन के सामने रेलवे-ट्रेन दिखलाई दी। आधुनिक सभ्यता की गोद

में पहुँच गये। यहाँ उतरने से फी आदमी रेल-किराये में छः आने अधिक देने पड़ते। इसीसे हमने हलद्वानी उतरना ही ठीक समझा, खासकर ऐसी हालत में जब कि मोटरवाला उसी दाम पर हमें हलद्वानी तक पहुँचा रहा था।

मोटर आगे चल पड़ी। पहाड़ पीछे छूट गया। मुड़-मुड़कर मैं ललचाई आँखों से उसे देखता रहा। हलद्वानी पहुँचकर थर्ड-क्लास-वेटिंगरूम के सामने लारी रुकी। वहीं सामान उतरवा लिए। मैंने मोटर से उतरकर फिर माँ के पैर छुए। मेरी पर्वत-यात्रा भी समाप्त हो गई। इतने दिन आनन्द से काट दिये। लोग कहते हैं कि राह बिल्कुल पहाड़ हो गई है और हम तो साक्षात् पहाड़ में ही थे। इतने दिनों बाद माँ को वहाँ से सकुशल लौटा लाने का आनन्द हमें कम न हुआ।

स्टेशन के उस पार निबटने गया और नहाने के लिये पोस्ट-आफिस के पास ही नहर पर। बीच में आर्यसमाज, धर्मशाला, कन्या-पाठशाला आदि देखी। जी में बड़ी इच्छा थी उस स्थान को भी देखने की, जहाँ चौदह वर्ष पहले एक बनिये के लड़के के साथ हमारे मित्र की मुठभेड़ हुई थी। किन्तु इतने साल के बाद क्या अब वह जर्जर मकान कायम ही होगा! तिसपर मुझे न उस बनिये का नाम याद था और न 'टमटा' के उस मुसलमान कारिन्दे का। अतः हमने वह विचार ही छोड़ दिया।

नहर की सीढ़ी पर उतरकर सानन्द स्नान किया। पहाड़ी नहर पर यह इस साल का आखिरी स्नान था। फिर न जाने कब ऐसा अवसर आवेगा। नहर बहुत ही पतली पक्की सतह पर बह रही थी। शीतल स्वच्छ जल था; किन्तु धारा बहुत तेज

थी। मुझे देहरादून की नहर याद आ गई, जिसके तट पर कुन्तू का अतिथि बनकर ठहरा था।

स्नान करके रेलवे-लाइन के किनारे-ही-किनारे लौटा। बाहर पेड़ की छाया में रसोई बन रही थी। मैंने कढ़ी-भात खाया और मुसाफिरखाने में आकर लेट रहा। ऊपर टीन तप रहा था और नीचे जमीन जल रही थी। बदन से मानों लपटें निकल रही थीं। तबीयत बेचैन हो गई। उतने ऊपर से एकाएक इतने नीचे आने का यही परिणाम होता है। कहाँ से कहाँ लाकर तुमने हमें पटक दिया हे भगवन्!

दोपहर को दो बजे हलद्वानी से गाड़ी चली। फी आदमी एक रुपया एक आना देना पड़ा 'बरेली' तक। जगह आराम की न मिली। आर० के० आर० के डब्बों से सन्तोष न हुआ। भोजीपुरा में खुर्चन ली। वह भी अच्छी न मिली।

ट्रेन जब हलद्वानी से चली, मैं किनारे बैठा पर्वत के दृश्य देखता रहा। 'दूरात् पर्वताः रम्याः'—पहाड़ दूर से ही सुहावने मालूम होते हैं; किन्तु मुझे तो वे नजदीक से भी अच्छे ही मालूम हुए। पहाड़ की उस ऊँची दीवार को देखकर मेरे मन में आया कि कितने ही सुन्दर-सुन्दर स्थान छिपे पड़े हैं उस दीवार की ओट में। ट्रेन आगे बढ़ती गई। पहाड़ का वह दृश्य क्षीणतर होता गया। पर्वत को प्रणाम! वह एकदम आँखों के ओझल हो गया।

लगभग पाँच बजे बरेली पहुँचे। बाहर इंटर-क्लास-वेटिंग-रूम के पास सामान रक्खे। तिवारीजी और वकील साहब की सलाह बाजार चलने की हुई। चार आने में ताँगा हुआ। हमलोग शहर की ओर चले।

सड़क काफी बढ़िया मिली। जगह साफ-सुथरी। सिविल लाइन, दिलकुशा थियेटर, कोतवाली आदि देखता बीच बाजार में पहुँचा। कुछ चीजें लेनी थीं, पर मिलीं नहीं। प्यास लगी तो एक दूकान पर कुछ नमकीन खरीदा। पानी पिया; किन्तु स्वाद उसका बहुत खराब था। तबीयत कै करने-सी हो गई।

उसके बाद पंडित राधेश्याम कथावाचक की पूछताछ की। मालूम हुआ कि वे बिहारीपुर की बजरिया में रहते हैं। विश्वास था कि सब जगह काम बिगड़ा है तो यहाँ भी बनने की उम्मीद नहीं। फिर भी आगे बढ़ता गया। वहाँ उनके द्वितीय पुत्र श्री बलराम शर्मा मिले, जो उस समय बरेली-कालेज के फोर्थ इअर के विद्यार्थी थे। वहीं श्री गिरीशकुमार कपूर भी मिले, जो किसी अच्छे बैंकर के लड़के हैं।

बलरामजी से मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने खातिर में कमी न की; किन्तु पानी वहाँ भी अच्छा न मिला। बरेली में मुझे जैसा खराब पानी मिला, वैसा कहीं भी न मिला था—कांडी में भी नहीं, पीपलकोटि में भी नहीं।

उनसे मैंने राधेश्यामजी की रामकथा खरीदी। पंडितजी से न मिलने का दुःख हुआ; किन्तु लाचारी थी। उनके प्रेस से होकर दूसरी ओर से सड़क पर जाने की राह थी। उनका आदमी हमें वहाँ तक पहुँचा गया। नजदीक कोई ताँगा न मिला, तो हम उलटी राह ताँगे के लिये चले। इसे ही समय का फेर कहते हैं। जमाना कितना बदल गया। पहाड़ में हम स्वावलम्बी थे, अपने पैरों पर भरोसा था और अब हम पद-पद पर सवारी की खोज करते हैं!

आखिर ताँगा मिला और हम स्टेशन पर आये। देर काफी हो गई थी। सभी तैयार थे। बस मेरी ही कमी थी, मैं भी झटपट तैयार हो गया ; किन्तु खाने का समय न मिला।

सबके साथ जाने के लोभ से मैंने भी पैसेञ्जर से ही जाना ठीक किया। यह भी उम्मीद थी कि जगह काफी मिलेगी ; किन्तु यहाँ तो बिल्कुल उलटा ही हुआ। ट्रेन बिल्कुल भरी हुई आई। किसी-किसी तरह जगह मिली ; किन्तु मुझसे यह न हुआ कि उसे छोड़ देता। बरेली एक विशेष प्रकार के लोग भेजे जाते हैं। जान पड़ता है कि हमपर भी उनकी कुछ-कुछ छाया पड़ ही गई थी, नहीं हम उस ट्रेन से तो कदापि न जाते।

ट्रेन में ही पूरी खाई—बिल्कुल रद्दी, कच्ची-सी। मलाई भी आटे की ही थी ! मेरी दुर्दशा हो गई। ट्रेन में बैठा-ही-बैठा ऊँघता रहा। शाहजहाँपुर के एक सेठजी पास बैठे थे। वे गंगोत्री, जमुनोत्री, केदारनाथ और बदरीनाथ होते हुए आ रहे थे। उन्हें देखकर मुझे मालूम हुआ कि उनके आगे हमारी यात्रा कितनी नगण्य थी। उनके सामने ही एक मुसलमान सज्जन बैठे हुए थे। वे भी हज करके लौटे थे। दोनों हाजी बैठे-बैठे बातें करते रहे।

उनके उतर जाने के बाद मैंने ऊपर के 'बर्थ' पर फेकू से बिछावन बिछवाया और उसीपर आराम से लेट रहा। नीचे एक वृद्ध काश्मीरी सज्जन थे, जो अपनी पारिवारिक विपत्ति की बातें कहकर रो रहे थे। भगवान् वैसी विपत्ति शत्रु को भी न दे !

卐

यात्रा का अन्त

१९-६-३३ को पौ फटते-फटते ट्रेन लखनऊ पहुँचो। यहाँ सभी उतरे और यहीं सारी मंडली तितर-बितर हो गई। छपरा-वालों ने छोटी लाइन की ओर रुख किया और हमलोगों ने बड़ी लाइन की ओर। वे उधर मुसाफिरखाने में ठहरे और हम लोग इधर इंटर-क्लास-वेटिंग-रूम में।

लखनऊ का इंटर-क्लास-वेटिंग-रूम—उसकी शान का कहना क्या! बढ़िया फर्श, बढ़िया दीवार, बड़ा कमरा, सुन्दर आइना, स्वच्छ आँगन, बाथ-रूम और फ्लश-सिस्टमवाला बढ़िया शौचालय। बहुत आराम रहा। स्नान इत्यादि से फुर्सत पा ली; किन्तु पेट अच्छा न मालूम हुआ। रात की पूरी ने हर्ज किया। अमृत-धारा खाई; पर फायदा न हुआ! अखीर दिन आखिर तबीयत खराब हो ही गई।

उधर के प्लेटफार्म पर जाकर डिप्टी-साहब वगैरह से बिदा माँग आया; लगभग डेढ़ महीना उन लोगों के साथ आनन्द से व्यतीत किया था। वकील साहब से भी माफी माँगी; बहुत चिढ़ाया करता था। झाजी और तिवारीजी मिले नहीं, शहर चले गये थे।

अपनी ओर चला आया। बुक-स्टाल से 'लीडर' लेकर देखा। अपने यहाँ के आइ० ए० का रिजल्ट देखा, मदन सेकेंड क्लास में पास हो गये। देहरा-एक्सप्रेस यथासमय आई और

जगह भी आराम की मिल गई। सीधे पटना जाना था। अयोध्या उतरने का विचार भी बिल्कुल छोड़ दिया गया था।

आम इधर बहुतायत से नजर आये। इतने अधिक थे कि एक स्टेशन पर तो किसीने पचासों आम यों ही प्रत्येक डब्बे में फेंक दिये; किन्तु मेरी तबीयत अच्छी नहीं थी, आम का आनन्द कौन उठाता !

फिर वे ही पुराने शहर सामने आये। आखिर बनारस आया। गंगा के दर्शन हुए—सुन्दर, शान्त, गम्भीर नदी; पहाड़वाली पगली नहीं। मैंने भक्तिभाव से प्रणाम किया।

मुगलसराय में गाड़ी बदलनी पड़ी। टिकट-कलक्टर के धक्के से गंगाजल की बोतल फूट गई, जिसे माँ अलकनन्दा से लिए आ रही थीं। माँ को बहुत ही दुःख हुआ, किन्तु किया क्या जाता।

दूसरी ट्रेन पर चढ़कर पटने की ओर चले। फिर वही बक्सर, वही डुमराँव। 'आरा' उतरने का विचार हुआ; क्योंकि बिना बाबूजी से मिले आगे बढ़ना ठीक न समझा गया।

बड़ी मुश्किल से स्टेशन पर बग्घी-गाड़ी मिली। फेकू हमें उनके मकान पर ले गया। पतली गली थी, बगल में नाली। जान पड़ता था, मानों गाड़ी उलट जायगी। मकान पर पहुँचे तो दरवाजा बन्द मिला। मालूम हुआ कि बाबूजी वहाँ नहीं हैं, बदलकर भभुआ चले गये! इतने ही दिनों में बातें कितनी बदल गईं। जी में बेचैनी हुई सबके समाचार जानने की। कौन कहाँ है; है अथवा नहीं! पहाड़ में तो जान-बूझकर पत्र नहीं मँगवाता था, किन्तु यहाँ अब जी परेशान हो गया।

फिर 'आरा'-स्टेशन पर आकर पञ्जाब-मेल पकड़ी। लगभग

दस बजे पटने पहुँचे—इसी स्टेशन पर, जहाँ से यात्रा शुरू की थी। आखिर ट्रेन-यात्रा भी समाप्त हो गई। मैंने बाहर आकर बग्घी पर चढ़ने के पहले माँ के चरण छुए।

फेकू (नौकर); मा (कुर्सी पर बैठी); लेखक

पटने की इन्हीं परिचित सड़कों पर गाड़ी चली। वे ही परि-

चित दृश्य सामने आये। आखिर घर पहुँच गया। जहाँ से ले गया था वहीं पहुँचा दिया। सकुशल और सानन्द यात्रा समाप्त हो गई।

चाचाजी और छोटे भैया मिले। हमें देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ; क्योंकि कल वे हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे। सभी खुश हुए। माँ का चरणोदक लिया गया। समाचार पूछने पर मालूम हुआ कि सभी अच्छे हैं। हमारे यहाँ भी भैया आदि मजे में हैं। मदन अपनी चाची के साथ कल आवेंगे; क्योंकि उन लोगों का तो खयाल है कि हमलोग इक्कीस को पहुँचेंगे और इधर हम उन्नीस को ही पहुँच गये।

रात को बड़े भाई साहब आये। मेरे लाख रोकते रहने पर भी उन्होंने मेरे पैर छू लिए। माँ से लिपट गये, बोले—"तू लौट के अएबे, हमरा एकर उम्मीद न रहे।"

मेरी यात्रा समाप्त हो गई। ललाट पर चन्दन का टीका लगा—मा को जहाँ से ले गया था, वहीं पहुँचा दिया—उनकी थाती उन्हें सौंप दी। कहीं कष्ट न हुआ और यदि हुआ भी तो ईश्वर की कृपा से सब ठीक हो गया।

यात्रा में रेल, मोटर, ताँगा, पैदल इत्यादि सब मिलाकर कुल चालीस दिन लगे। ग्यारह मई को चला, उन्नीस जून को लौट आया। पैदल कुल लगभग पौने चार सौ मील चला, सब निबह गया भगवान् की ही कृपा से। सब उनकी ही दया है। बोलो श्री बदरीविशाललाल की जय!

× × × ×

उस रात को वहीं सोया, जहाँ यात्रा के पहले सोया करता

था। 'पुनर्मूषिको भव'—भू-वैकुंठ से फिर भूलोक में आ गया। सारी बातें सपने के समान हो गईं। उसी समय याद आ गया अपना वह गीत। साथ-ही-साथ सारी बातें भी याद आ गईं। आह! फिर वह दिन न आवेगा—

बटोही! फिर वह मीठी तान।

नहीं मिलेगा सुनने को वह मधुर मनोहर गान॥
ऊँची हिम की चोटी पर उन किरणों का मुसकाना।
पर्वत के सुन्दर प्रभात में चिड़ियों का वह गाना॥
नहीं देखने में आवेगा फिर वह स्वर्ण-बिहान॥ बटोही०
गिरि-सरिता का वह अल्हड़पन, खेल चपल लहरों का।
चीड़-विपिन की सुरभि लिए सुन्दर समीर का झोंका॥
पयस्विनी के सुन्दर तट पर वे लहराते धान॥ बटोही०
गिरि के उच्च शिखर पर अलसाये मेघों का सोना।
जग की मूक व्यथा पर गिरि-निर्झर का झर-झर रोना॥
निर्जन वन की उन कलियों की मन्द मधुर मुसकान॥ बटोही०
नीले नभ में घन-घमंड का उमड़-घुमड़ घिर आना।
रिमझिम-रिमझिम कभी-कभी फिर धुँआधार बरसाना॥
शीतल शांत समीर कभी, अरु कभी प्रबल तूफान॥ बटोही०
पर्वत के पीछे से शशि का धीरे-धीरे आना।
ताराओं के आभूषण से निशि का अंग सजाना॥
ऊषा के मंजुल प्रकाश में रजनी का अवसान॥ बटोही०

सान्ध्यगगन की म्लान माधुरी, शीतल सुंदर छाया।
अन्धकार की चादर ओढ़े, ऊँचे गिरि की काया॥
धीरे-धीरे हाय हो गये सारे स्वप्न-समान ॥ बटोही०
क्या जाने फिर कब पाऊँगा वह शीतल जल-धारा।
कब देखूँगा इन नयनों से फिर वह गिरिवर प्यारा॥
अथवा मन ही में रह जावेंगे मन के अरमान ॥ बटोही०

सचमुच आगे क्या होगा, कौन कह सकता है ?